श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-ग्रन्थान्तर्गतौ-द्वादश-त्रयोदशौ-ग्रन्थौ-

जलभेदः

चतसृभिष्टीकाभिःसमलंकृतः

||श्रीकृष्णाय नमः||

||श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः||

ग्रन्थ-परिचय

जलभेद तथा पञ्चपद्यानि ग्रन्थ कब, कहां और किसकेलिए लिखे गये इसका विवरण कहीं मिलता नहीं है.

जलभेदमें भगवत्कथाके वक्ताके उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ स्वरूप निर्धारित किये गये हैं; तथा पञ्चपद्यानिमें श्रोताके उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ स्वरूप निर्धारित किये गये हैं. यद्यपि भागवतके प्रथम स्कन्धका भी वर्ण्य-विषय यही है फिरभी सर्वांशमें दोनों ग्रन्थ प्रथम स्कन्धका ही अनुसरण करते हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता है.

भागवतके प्रथम स्कन्धमें स्वयम् भागवतके वक्ता तथा श्रोता के उत्तम-मध्यम-कनिष्ठ अधिकारोंका निरूपण किया गया है. जबकि इन जलभेद और पञ्चपद्यानि में भागवतोक्त धर्म शरणागति तथा निर्गुणा भक्तिके अङ्गभूत, भगवान्के स्वरूप गुण एवम् लीलाओंके श्रवण-स्मरण-कीर्तनार्थ अपेक्षित, वक्ताओं तथा श्रोताओं के उत्तम-मध्यम-कनिष्ठ अधिकारका विवेचन किया गया है. यहां भागवतपुराणके प्रवचन या श्रवण का प्रश्न नहीं है अपितु भागवतानुसारी भगवान्के स्वरूप, गुण, एवम् लीलाओंके श्रवण-स्मरण-कीर्तनके एक व्यापक सन्दर्भमें ही श्रीमहाप्रभुजीने जलभेद तथा पञ्चपद्यानि ग्रन्थका उपदेश दिया है. अतएव भागवतकेलिए श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं

> यदौपनिषदं ज्ञानं श्रीभागवतमेव वा।
>
> वर्णिनामेव तद्धि स्यात्स्त्रीशूद्राणां ततोन्यथा।। (भाग। नि। ३।१७८)

अर्थ:औपनिषद तथा श्रीभागवत के ज्ञानका अधिकार उपनयन संस्कारवाले द्विजोंका ही होता है-अनुपनीत स्त्री या शूद्रों का नहीं.

आजकल चल निकली चन्दा एकत्रित करनेकेलिए होती भागवत सप्ताहकी हास्यास्पद रीतिसे विपरीत भागवतके प्रवचन और श्रवण के कुछ गम्भीर नियम श्रीमहाप्रभु स्वीकारते हैं. अतएव आज्ञा करते हैं कि ''भागवत प्रसङ्गो न यथाकथञ्चिद् यत्रकुत्रचिद् कर्तव्यः किन्तु महान्तश्चेद् वहवः शुद्धास्तीर्थनिरताः प्रार्थयेयुस्तदैव प्रसङ्गः कर्तव्यः।।। एतादृशेपि श्रोतरि न सहसा भागवतं वक्तव्यं किन्तु तद्हृदयमवगाह्यैव... रीतिरियं सदा'' (भाग। नि. १।२२-२५)

अर्थ:जैसे मनमें आये वैसे, जहां मनमें आजाये वहीं, भागवतका प्रसङ्ग छेड नहीं देना चाहिये. किन्तु अनेक महापुरुष तीर्थवासनिरत शुद्ध श्रोताओंद्वारा प्रार्थना किये जानेपर ही भागवतका प्रसङ्ग छेडना चाहिये. फिर ऐसोंके सम्मुख भी सहसा नहीं पहले श्रोताकी हार्दिक उत्कण्ठा एवम् जिज्ञासुताको अच्छी तरह पहचान कर ही प्रसङ्ग छेड़ना चाहिये. आदि प्रवचनकर्ताओंकी यही रीति थी और आज भी तथा सर्वदा यही रीति हमें निभानी चाहिये.

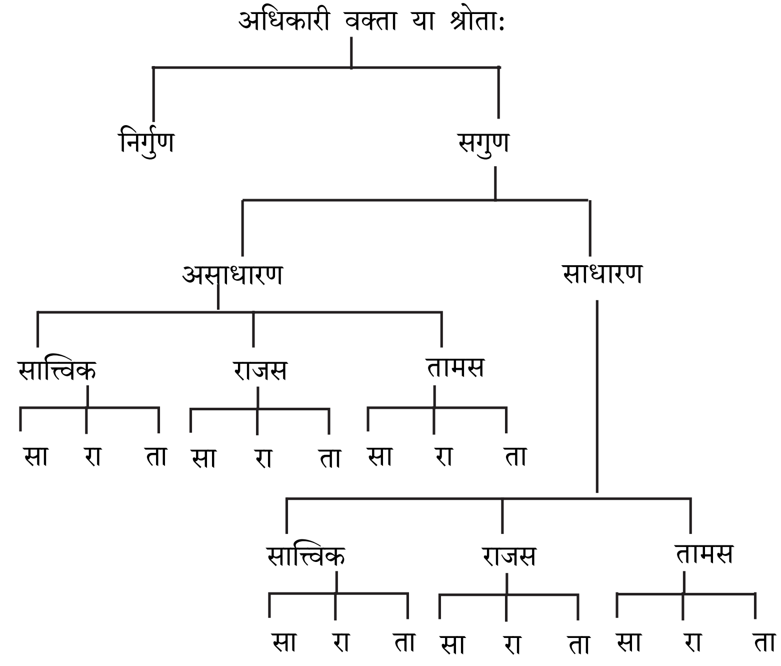
श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि इसके विपरीत जब अनधिकारी लोग यशोलिप्सा, धनलिप्सा या स्पर्धाके वेशीभूत होकर स्वयम्को भागवतप्रवचनके योग्य अधिकारी मान बैठते हैं और यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रवचन करने लग जाते हैं तो भागवतकें प्रवचन पाठन या पठन का अधिकार तो दूर भागवतोक्त धर्म-पालनके अधिकारी भी वे रह नहीं जाते हैं-''ये पुनरेतानि वाक्यान्याश्रित्य स्वस्यापि पाठाधिकारमापादयन्ति तेषां मात्सर्यादिदोषग्रासेन श्रीभागवतधर्मेष्वप्यनधिकार: किं पुन: पाठे... नतु श्रावणीयं वा विन्ध्यभावात्'' (भाष्यप्रका. १।३।३८)

यहां जलभेद और पञ्चपद्यानिमें किन्तु जिस वक्ता या श्रोता को आदर्श माना गया है उसका उपनीत या द्विज होना अनिवार्य नहीं है. क्योंकि इस वक्ताका वेदादि शास्त्रोंका प्रवचनकर्ता होना भी आवश्यक नहीं है. वेदादि शास्त्रोंसे अविरुद्ध भगवत्स्वरूप-गुणलीलाके निर्व्याज अहर्निश चिन्तनमें सप्रेम तत्पर होना ही यहां पर्याप्त है. भागवतमें आता है कि

> तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो
> यस्मिन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
> नामान्यनन्तस्य यशोंकितानि
> यच्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधव:।।

अर्थ:भक्तोंके मुखसे नि:सृत वाणी, लौकिक भाषामें गाये गये गीतिपद अथवा संस्कृत भाषामें गाये गये गीतगोविन्द जैसे काव्य, प्राणिमात्रके सभी पापोंको नष्ट कर देते हैं. यह सम्भव है कि इनमें छन्द व्याकरणकी दृष्टिसे कुछ त्रुटियां हो अथवा गानेकी प्रक्रियामें भगवान्नामके अक्षरोंका तानकर गान करनेमें परस्पर सहभाव टूट जाता हो. पर अनन्तकीर्ति भगवानके यशोंकित अनन्त नाम भक्तिमान् वक्ताओंकें मुखसे सुने जानेपर या भक्तिमान् श्रोताओंके सम्मुख गाये जानेपर अथवा स्वयम् भी एकाकितया लिये जानेपर सारे कल्मषोंको दूर कर देते हैं. (सुबो. १।५।११)

अतएव भागवतमें वक्ता और श्रोता के उन्नीस भेद माने गये हैं. यथा:



इस वर्गीकरणमें निर्गुण अधिकारी उत्तम माना गया है. असाधारण अधिकारीके सात्विक-सात्विक राजस-सात्विक आदि नौ भेद होते हैं. ये मध्यम अधिकारी हैं. इसी तरह साधारण अधिकारीके भी पूर्वोक्त रीतिके अनुसार नौ भेद होते हैं और इन्हें कनिष्ठ माना जाता है. यह उत्तम-मध्यम-कनिष्ठ कक्षा भक्ति, वैराग्य तथा द्विविध ज्ञान (अनुभवपर्यवसायी अर्थज्ञान तथा अनुभवविहीन केवल शाब्दिक ज्ञान)की चारों कसोटीपर खरे उतरनेवालेको उत्तम, अनुभवपर्यवसायी अर्थज्ञान तथा भक्ति रहनेपर भी वैराग्यरहित होनेपर मध्यम तथा वैराग्यरहित केवल शाब्दिक ज्ञान एवम् भक्तिवाले अधिकारीकी कनिष्ठ कक्षा मानी जाती है.

तदनुसार ही जलके भेद भी सुबोधिनीमें उन्नीस ही माने गये हैं, जहां श्रीमहाप्रभु यह विवेचन करते हैं कि ''उन्नीस भेद होनेपर भी बहता हुआ जल और स्थिर जल ये दो मुख्य भेद हैं'' (दृ. सुबो. १०।३।३) जबकि यहां जल और वक्तृभाव दोनोंके बीस भेद स्वीकारे गये हैं. इससे भी यही सिद्ध होता है कि प्रथम स्कन्धमें निर्धारित अधिकारभेद केवल भागवतके सन्दर्भमें ही विवक्षित है. जबकि

यहां भगवत्स्वरूप भगवद्गुण या भगवद्लीलाका भागवतानुसारी या भागवत अविरोधी होना अनिवार्य होनेसे, वक्ताका भी भागवतानुसारी या भागवत अविरोधी होना अनिवार्य है, परन्तु एतावता प्रत्येक वक्ताका भागवतपुराणपर प्रवचनकारी होना आवश्यक नहीं है. यहां तो पुष्टिमार्गीय श्रोताको भगवत्कथाका श्रवण-स्मरण-कीर्तन कैसे वक्ताके सत्सङ्गद्वारा सम्पन्न करना चाहिये यही विवक्षित सन्दर्भ है. अतएव श्रोताके भी उन्नीस भेद न दिखलाकर केवल तीन या चार भेद ही दिखलाये गये हैं. अतएव उन्नीस और बीस के भेदको विवक्षाप्रयुक्त मानना चाहिये.

फलत: पुराणप्रवचनकी अनिवार्य शर्त उपनयन-संस्कार या द्विजत्व अथवा पुरुष होना भी यहां अनिवार्य नहीं लगता है. परन्तु इसके सिवा अन्यगुण जो भागवतके वक्ताकी उत्तमताके परिचायक हैं यथा उसका स्वसम्प्रदायकी परम्पराके अनुसार सत्पुरुषके मुखसे भगवद्लीला एवम् सिद्धान्तका श्रवण किये हुए होना, स्वयम् धनोपार्जनके हेतु भगवत्कथामें प्रवृत्त न होना एवम् ज्ञान-भक्ति-वैराग्य-सम्पन्न होना आदि, उन्हें इस सन्दर्भमें भी आवश्यक माना जा सकता हैं- ‘‘वक्ताधिकारी सर्वज्ञ: सम्प्रदायेन सन्मुखात् श्रुतभागवतो भक्तो... ’’ (भाग। नि। १।२३)

जीवनकी सबसे बड़ी उपलब्धि, श्रीमहाप्रभुके अनुसार, चित्तका श्रीकृष्णमें तन्मय हो जाना है. इसके दो साधन दिखलाये गये

१.तदाश्रय-प्रपत्ति

२.तदीयता-भक्ति

विवेकधैर्याश्रयग्रन्थमें तदाश्रयके उपायरूप विवेक धैर्य एवम् अनन्याश्रयका निरूपण किया गया है. इसी तरह तदीयताके उपारूप आत्मनिवेदन सर्वसमर्पण, सर्वभावसे तनुवित्तजा सेवा, भगवत्कथाका श्रवण-स्मरण-कीर्तन आदिका सिद्धान्तरहस्य नवरत्न चतुश्लोकी सिद्धान्तमुक्तावली तथा भक्तिवर्धिनी में निरूपण किया गया है.

भक्तिवर्धिनीमें भक्तिके बीजभावको दृढ़ करनेका उपाय, यदि व्यक्ति अव्यावृत्त हो तो, स्वगृहमें स्ववर्णाश्रमाचारको निभाते हुए भगवत्सेवा-कथामय जीवनयापन करना माना गया है. व्यक्तिके व्यावृत्त होनेके कारण यदि भगवत्सेवाका निर्वाह शक्य न हो तो उसे भगवत्कथाके श्रवण-स्मरण-कीर्तनमें तत्पर रहना चाहिये, बीजभावको दृढ़ करनेकेलिए बीजभावके दृढ़ होनेपर गृहत्वागकी प्रेरणा भी दी

गयी है. गृहत्यागकी शक्यता न हो तो भगवत्सेवा-कथा-परायण भगवदीयोंद्वारा की जाती भगवत्सेवामें परिचारक सहायक बननेका और अथवा भगवत्कथा (जब वे करते हों)में श्रवणार्थ सम्मिलित होनेका विधान भी किया गया है. इस तरह अनेकविध उपायोंसे बीजभावसे लेकर प्रेम आसक्ति व्यसन सर्वात्मभाव या अलौकिक सामर्थ्य तकके विकासकी रूपरेखा दिखलायी गयी है.

इन सभी विकल्प और अनुकल्प द्वारा भक्तिमार्गमें भगवत्कथाकी असाधारण महत्ता एवम् उपादेयता स्पष्ट होती है. भगवत्कथामें वक्ताकी अपेक्षा रहती है श्रवणार्थ; तथा श्रोताकी अपेक्षा रहती है कीर्तनार्थ स्मरण स्वत: भी सम्भव है परन्तु फिरभी किसी समानशील भगवदीयकी सत्सङ्गतिमें भगवत्स्मरणका एक अलग ही रूप निखरता है इसमें सन्देह नहीं.

कुल मिलाकर श्रोता एवम् वक्ता दोनोंको भगवत्कथाके श्रवणार्थ एवम् कीर्तनार्थ परस्पर-एकदूसरेकी अपेक्षा रहती ही है. ऐसी स्थितिमें योग्य वक्ता तथा योग्य श्रोता के अभावमें न केवल भगवत्कथामें रसाभास होनेकी अपितु बीजभावके भी दृढ़ होनेके बजाय खण्डित होनेकी सम्भावना रहती है. अतएव जलभेदमें योग्य वक्ताका स्वरूप श्रोताके श्रवणाङ्गके रूपमें समझाया गया है तथा पञ्चपद्यानिमें योग्य श्रोताका स्वरूप वक्ताके कीर्तनाङ्गके रूपमें समझाया गया हैं

नित्याभिवन्दनीय श्रीहरिके सर्वतापहारी एवम् सर्वसुखकारी गुण भी वक्ताओंके हृदयके भावपात्रमें भरे होनेपर कुछ न कुछ भिन्न रूप धारण कर लेते हैं. जैसे जल स्वत: शीतल स्वच्छ अव्यक्तमधुर सर्वशोधक एवम् तापशामक होनेपर भी जिस आधरभूमिमें (उदाहरणतया कूप-तलाव-नदी-समुद्र-झरना-नाला-गड्ढे आदिमें) भरा हुआ होता हैं वहांके गुणधर्मोसे युक्त हो जाता है, वैसे ही.

तैत्तिरीय संहिताके सातवें काण्डमें जलके बीसरूप श्रुतिमें गिनाये गये हैं। यथा १.कूप २.नहर ३.खेतकी नाली ४.नदीके जलसे बना गड्ढा ५.गन्दे नाले या मोरी के जलसे बना गट्ढा ६.नदीके जलसे बने बड़े तालाव ७.पीने लायक पानीवाले बड़े तालाब ८.सुन्दर सरोजादि पुष्पवाले बड़े सरोवर ९.छोटे तलाव १०.पङ्कबहुल तालाब ११.वर्षाका जल १२.स्वेदजल-पसीना १३.जलप्रताप-झरना १४.ओसके जलबिन्दु १५.बरसाती नदी-नालों जैसा अस्थिर प्रवाहवाला जल १६.बाहरमासी नदियोंका स्थिर सर्वदा समान रूपमें बहनेवाला जल १७.निरन्तर उद्गमवाली ऐसी नदियां जिनका जल वर्षा या ग्रीष्ममें बढ़ता या घटता हो. १८.समुद्रमें मिलनेवाली महानदियां १९.समुद्र २०.अन्य भी इनमें से भरे गये अथवा गिरे हुए जल.

स्वभावत: एकरूप भी जल अपने इन आधारोंके गुणधर्मोके अनुरूप अनेकरूपता प्रकट करता है। इसी तरह भगवान्के एकरूप गुण भी भगवत्कथाके वक्ताकी योग्यता एवम् भावोंके अनुरूप अनेकरूपता धारण कर लेते हैं. यथा:

१.भगवद्गुणोंका स्वर-ताल-लयाश्रित गान करनेवाले विश्रुत गन्धर्वोके जैसे लोग कुएकी तरह होते हैं. कुछ कुए मीठे जलके होते हैं कुछ खारे जलके कुछ पवित्र शास्त्रीय माहात्म्यवाले होते हैं. यथा न्यग्रोध वृक्षसे उत्तरकी दिशामें स्थित कूप अथवा द्वारकाका दामोदरकूप या व्रजका गोपकूप। कुछ कुए अपवित्र-मलिन जलवाले होते हैं. ऐसे ही सभी भेद गायकोंमें भी होते हैं. कुछ गायक स्वर-तालके अङ्गरूपेण भगवद्वर्णनात्मक शब्दोंका योजन करते हैं, तो कुछ गायन भगवद्वर्णनात्मक शब्दोंके अङ्गरूपेण स्वर-तालका योजन करते हैं. प्रथम प्रकारके गायकोंको खारे जलवाले कुएकी तरह समझना चाहिये और दूसरे प्रकारके गायकोंको मीठे जलके कुएकी तरह गहरे कुएका जल ठंडीमें गरम और गरमी ठंडा लगता है. इसी तरह भावगाम्भिर्यवाले गायकोंद्वारा किया गया भगवद्गुणगान सांसारिक तापसे तप्त श्रोताको आध्यात्मिक-आधिदैविक शीतलता प्रदान करता है; और सांसारिक मोहसे जडीभूत ठिठुरते हृदयोंको भगवद्भावकी कुछ उष्मा भी इन गायकोंद्वारा किये गये भगवद्गुणगानसे मिल सकती है.

२.पौराणिक-पुराणकथा सुनानेवाले नहरकी तरह होते हैं. नहरका जल अपना स्वयम्का नहीं होता किन्तु किसी नदी या सरोवरसे जुड़ा हुआ होता है. इसी तरह पुराणकथा सुनानेवाले वक्ताका भाव स्वयम् उसका न होकर केवल पुराणकथा करते समय कथावेशसे प्रयुक्त होता है. अतएव अश्रुपात कण्ठावरोध या उल्लास केवल कथाकालमें ही प्रकट होते हैं सर्वदा नहीं.

३.अपने कुटुम्बपोषण घन या यश की कामनासे जो कथा करते हैं वे खेतको जल पहुंचानेवाली नालियोंकी तरह होते हैं. खेतकी नालीके जलका मुख्य प्रयोजन धान्योत्पादन है. उसी तरह इन वक्ताओंकी भगवत्कथाका भी मुख्य प्रयोजन संसार वढ़ाना ही होता है. अत: वही फल श्रोताको भी मिलता है.

४.वेश्या या स्वैरिणी स्त्रियोंसे घिरे, द्यूत और मद्यपान आदि व्यसनोंसे प्रमत्त वक्ता नदीके जलसे बने गन्दे जलके गड्ढेकी तरह होते हैं. इन्हें वेदमें 'प्रदर' कहा गया है तथा इनका आचमन भी निषिद्ध माना गया है.

५.भगवानके गुणगानको आजीविका बनाकर उदर या कुटुम्ब का पोषण करनेवाले गायक या पौराणिकों के भाव, घरकी गन्दी मोरियोंमेंसे निकलनेवाला

मलिन जल चारों ओर फैल न जाये इसकेलिए जो गड्ढे खोदे जाते हैं, उनमें भरे हुए जल जैसा अपवित्र होता है. जैसे उस गन्दे जलका स्पर्श अशुचिकर होता है वैसे ही भगवद्गुणगानको आजीविका बनानेवालोंका प्रवचन भी.

६.नदियोंके जलसे जैसे कहीं जलाशय बनाया जाता है या कभी नैसर्गिक रूपसे स्वयमेव भी बन जाता है. इसी तरह गीता भागवत पाञ्चरात्रादि भगवद्शास्त्रोके निरन्तर अभ्याससे व्यक्तिके हृदय और बुद्धिमें भगवद्भावका एक विशाल जलाशयसा भर जाता है. बड़े जलाशयोंका जल न तो धूपके कारण सूख सकता है और न उसे भैस जैसे पशु मलिन ही बना सकते है. ठीक इसी तरह इन शास्त्राभ्यासियोंका भाव न तो सांसारिक तापोंसे शुष्क होता है और न कुर्तक या असम्भावना विपरीतभावनासे मलिन ही.

७.स्वयम् निरन्तर शास्त्राभ्यास करना एक बात है और श्रोताके सन्देहोंको निवारण कर पानेका सामर्थ्य दूसरी बात है. अत: सन्देह निवारक वक्ता मानों पीने लायक पानीवाले बड़े जलाशयकी तरह होते है। ऐसे स्वच्छ निर्मल जलाशयकि जिनमें न तो पङ्क और न शैवाल ही पैदा होते हों.

८.स्वयम् भगवद्शास्त्रोंका निरन्तर अभ्यास तथा दूसरोंके सन्देहोंको भी निवारण करनेकी क्षमता होनेपर भी कभी-कभी वक्तामें स्वयम् भक्तिभाव नहीं होता. परन्तु वह भी यदि प्रकट हो जाये तो ऐसे वक्ताको सुन्दर सरोजवाले रम्य सरोवरकी तरह समझना चाहिये.

९.कुछ वक्ताओंमें भगवत्प्रेम होता है पर वे स्वयम् अल्पश्रुत होते है. ऐसे वक्ताओंको छोटे तालाबोंकी तरह समझना चाहिये, जो स्वयम् स्वच्छ जलवाले होनेपर भी भैंस जैसे पशुओंद्वारा मलिन बनाये जा सकते हैं, अल्प जलराशीके कारण ही. ऐसे ही अल्पश्रुन्तताके कारण इनके भाव कुतकोसे दूषित हो सकते है.

१०.जिन वक्ताओंने स्वयम् न तो शास्त्रीय विषयोंका श्रवण भलीभाति किसी सद्गुरुके मुखसे किया हो और न भगवद्भक्ति ही जिनमें पर्याप्त हो, फिर भी जिनकी निष्काम धर्माचरण-कर्मानुष्ठानमें निष्ठा दृढ़ हो, ऐसोंको यदि भगवत्कथा प्रवचन करनेकी वृत्ति जगे तो इनके भाव भी छोटे तलावकी तरह ही समझने चाहिये। छोटे तलावका जल शीघ्र ही सूख भी जाता है और शीघ्र मलिन भी हो सकता है.

११.जिन व्यक्तियोंका मन योगध्यान आदिकी प्रक्रियामें लगा हुआ हो, उनके

भाव स्वत: तो निर्मल हो सकते है, परन्तु श्रोताओंसे घिरते ही इनके भावोंमें परिवर्तन आने लगता है. यौगिक साधनाका निखार एकान्तमें आता है। अत: जनतासे घिरे रहनेकी वृत्तिवाले योगीकी समूची योगसाधना निष्फल चली जाती है. अतएव इनका भाव वर्षाजलकी तरह होता है जो स्वयम् स्वच्छ होनेपर भी जहां गिरा वहांके गुणधर्म शीघ्रतया स्वीकार लेता है.

१२.केवल तपो-ज्ञान-वैराग्यादिकी साधनामें निरत व्यक्ति जब भगवत्कथाका प्रवचन करते हुए मिलें तो उनके भावको स्वेदजलकी तरह समझना चाहिए. स्वेदजल-पसीना जिसे आता है वह उसके परिश्रमका तो द्योतक होता है, परन्तु दूसरेके कामना वह नहीं होता. इसी तरह व्यक्तिकी तपश्चर्या या भक्तिहीन शुष्क ज्ञानवैराग्य-साधना स्वयम् व्यक्तिकेद्वारा लिए हुए आध्यात्मिक परिश्रमकी द्योतक तो होती है, परन्तु अन्य श्रोताओकेलिये तो व्यर्थ ही

१३.पर्वतपरसे गिरते जलप्रताप-झरने का जल निर्मल, शीतल, मधुर सतत तथा श्रवण, दर्शन, स्पर्शन, स्नान, आचमन, पान आदिमें मनोहारी तापहारी एवम् सुखकारी लगता है. इसी तरह भगवत्कृपाके कारण अथवा महान् भगवदीयोंकी कृपाके कारण, जिन्हे स्वयम् श्रीहरिके दिव्य मधुर गुणोंका अलौकिक ज्ञान प्राप्त हो गया हो तो ऐसे वक्ताओंके मुखसे भगवद्गुणगान सुनना किसी मनोहारी झरनेके सामने पहुंच जानेकी तरह एक सुखद प्रसङ्ग होता है यह सर्वत्र-सर्वदा सुलभ नहीं होता. जैसे झरनेके सामने पहुंचनेसे पहले, कुछ दूरीपरसे ही उस जलप्रतापकी ध्वनिसे उसके अस्तित्वका बोध हो जाता है. इसी तरह इन भगवदीयोंके पद्ग्रन्थ आदि रूपमें शब्दोंके श्रवणमात्रसे ही इनकी अलौकिक अनुभूतिका निर्णय हो जाता है.

१४.सकाम उपासनाके अङ्गभूत श्रौत या पौराणिक, वरुण, इन्द्र, दुर्गा, गणपति, भैरव, नवग्रह आदि, देवताओंके उपसाक यदि श्रीकृष्णकी कथा करते हों तो उनके भावोंको ओसके बिन्दुओंकी तरह समझना चाहिये. ओसके जलबिन्दु जिस स्थानपर गिरते हैं वहां उभरे हुए दिखलायी पडते हैं. पर वह वास्तविकता नहीं होती. इसी तरह अन्यदेवोपासक वक्ताके मुखसे श्रीकृष्णकथा अन्यदेवोंकी उपासनाभूमिपर श्रीकृष्णद्वारा गिराये गये ओसके क्षुद्र बिन्दुओंकी तरह होती है. ओसकी जैसे केवल देखने भरकी शोभा होती है, इसी तरह इस कृष्णकथाकी केवल श्रवणमात्रकी ही शोभा होती है. स्नान-पानमें ओसके जलबिन्दु अनुपयोगी होते हैं और थोड़ी सी धूप निकलते ही ओझल हो जाते हैं. इसी तरह इनके भाव

भी श्रोताकेलिए उपयोगी नहीं होते. कथाकालमें ही केवल प्रकट होकर पश्चाद् वे ओझल हो जाते है.

१५.वर्णाश्रमधर्मको निभाते हुए श्रीकृष्णकी नवधा भक्तिमें तत्पर वक्ताओंमें यदा कदा प्रेमावेशके कारण भगवदीय धर्मोका स्फुरण होता रहता है, इनके भावको बरसाती नदीके प्रवाहकी तरह समझना चाहिये.

१६.कुछ नदियां बारहमासी होती है. इनमें न तो पूर आता है और न इनका जल घटता है। इसी तरह भगवत्कथामें न जिन्हें प्रेमावेशका पूर आता हो और न उनकी रुचि ही कभी क्षीण होती हो ऐसे मर्यादामार्गीय वक्ताओंके भाव स्थिर प्रवाहवाली नदीके तुल्य होते है.

१७.कुछ नदियोंके उद्गमस्थलपर निरन्तर पानी उभरता रहता है. अत: इनका प्रवाह कभी रुकता नहीं, पर वर्षा-आतपके कारण इनके जलस्तरमें निरन्तर वृद्धि ह्रास होता रहता है इसी तरह जिन वक्ताओंका भाव उनकें आसपासके व्यक्तियोंकी सङ्गतिके कारण कभी वृद्धिङ्गत होता हो और कभी क्षीण होता रहता हो परन्तु भावप्रवाह कभी अवरुद्ध न होता हो, तो ऐसोंका भाव अनेक जन्मोंसे चली आ रही भावसाधनाके कारण निरन्तर उद्गमवाली नदीके समान होता है.

१८.कुछ महानदियां समुद्रगामिनी होती हैं जो ऋतुचक्रसे अप्रभावित रहती हैं. इनमें पूर आता है पर जल कभी कम नहीं होता. जिन वक्ताओंके भाव सङ्गदोषसे अप्रभावित रहते है उन्हें समुद्रगामिनी महानदियोंके तुल्य समझना चाहिये.

१९.समुद्रोंके अनेक भेद शास्त्रोंमें वर्णित हैं. यथा क.क्षारोद ख.इक्षुरसोद ग.सुरोद घ.घृतोद ङ.क्षीरोद च.दधिमण्डोद छ.शुद्धोदया अमृतोद. ये सब अगाघ एवम् वृद्धि क्षयरहित होते हैं. इसी तरह, लौकिक गुणोंके मिश्रण, वैदिक गुणोंके मिश्रण तथा लोकवेदमिश्रित गुणोंके मिश्रणसे, भगवद्गुणोंके वर्णन करनेवाले समुद्रोपम वक्ताओंके भाव भी अनेकविध होते है.

क.श्रीराम या श्रीकृष्ण को साक्षात् परमेश्वर न मानकर केवल महापुरुष अर्थात् महान् मनुष्य माननेवाले वक्ताओंके भाव क्षारोद समुद्रके जलकी तरह खारे होते हैं. इनसे भक्तकी तृषा मिट नहीं सकती। भगवदवतारोंके चरित्रकी मानवीय व्याख्या करनेवाले वक्ताओंका भाव भक्तिमार्गीय दृष्टिकोणसे खारा अरुचिकर तथा तृषा अनिवर्तक होता है.

ख.परमात्माको अप्राकृत गुणधर्मोसे युक्त माननेपर भी अवतारोंको प्राकृत गुण-धर्मयुक्त माननेवाले वक्तओंका भाव इक्षुरसोदके तुल्य होता है. गन्ना

चूसनेपर प्रारम्भमें मधुर लगता है किन्तु अन्तमें विरस हो जाता है.

ग.स्वयम् मोहवश अथवा मोहप्रवर्तनकी भगवदाज्ञाके वशीभूत होकर जो भगवान्‌के गुणोंको मायिक मानते हैं तथा ब्रह्मको निर्गुण निराकार निर्धर्मक मानते है, उनकी भगवत्कथाका श्रवण सुरोदके आचमनकी तरह होता है. सुरासे जैसे स्वरूपविस्मृति आदि अनेक प्रमाद प्रकट होते हैं, वैसे ही ब्रह्मको अथवा भगवदवतारोंको निर्गुण अथवा मायिक गुणोंवाला माननेवालोंके उपदेश सुननेसे भी अनेकविध मोह उत्पन्न हो जाते हैं. बहुधा ऐसे वक्ता स्वयम् परम भगवदीय होते है आगाध समुद्र जैसे पर उपदेश इनके भक्तिमार्ग विरोधी होते हैं। जैसे परम भागवत श्रीमहादेवको भगवदाज्ञावश मायावादका प्रवर्तक करना पडा.

घ.भगवान्‌के दयालुता आदि गुणोंपर जो भार देते हुए भगवत्कथा करते हैं उनसे भगवद्‌गुणगान सुनना घृतोद समुद्रके आचमनकी तरह भक्तिबलको बढ़ानेवाला होता है.

ङ.श्रीहरिके सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वदु:खहर्ता आदि गुणोंपर भार देते हुए जो भगवत्कथा करते हैं उनसे भगवद्‌गुणगान सुनना क्षीरोदके आचमनकी तरह होता है. यह स्वादिष्ट-शक्तिवर्धक और पवित्र होता है.

च.केवल वैदिक मर्यादाओंकी स्थापनाके सीमित प्रयोजनको प्रस्तुत कर जो वक्ता भगवदवतारचरित्रोंकी व्याख्या करते हैं उनके भाव दधिमण्डोदकी तरह होते हैं. दधिमण्ड-मठा सुपाच्य तथा स्वादिष्ट होनेपर भी नवनीतके निकल जानेसे सारहीन होता है. वैसे ही भक्तोंको स्वरूपानुभवकेद्वारा परमानन्दका दान, जो अवतारका मुख्य प्रयोजन है, इनकी भगवद्‌गुणगानकी रीतिके कारण कथामेंसे बाहर निकल जाता है. फलत: इनकी कथा सारहीन हो जाती है.

छ.शुद्धोद समुद्रको ही श्रीमहाप्रभु 'अमृतोद' भी कहते हैं. श्वेतदीपके चतुर्दिक परिखा-खाईके रूपमें भरे हुए 'अर' और 'ण्य' नामक समुद्रोंका वर्णन वाराह पुराणमें भी उपलब्ध होता है-''अरनामामृताम्भोधि: ण्यनामामृतसागर:'' ऐसे ही छान्दोग्योपनिषद्‌में भी ''अरश्च वै ण्यश्च अर्णवौ ब्रह्मलोके... तदैरन्मदीयं सर:'' कहा गया है. इनसे प्रतीत होता है कि 'शुद्धोद' और 'अमृतोद' पर्यायवाची हैं.

सनत्कुमारोंको उपदेश देनेवाले सङ्कर्षण शेष, अपने आत्मज शुकको भागवत पढानेवाले भगवद्ज्ञानावतार महर्षि बादरायण व्यास, अग्निपुराणके वक्ता अग्नि, वायुपुराणके वक्ता मारुत या हनुमान भी, रहूगण राजाको ज्ञानोपदेश करनेवाले अवधूत जड़भरत, अनेकधा भक्तिशास्त्रोंके उपदेशक नारद, सनत्कुमारके शिष्य तथा विदुरके गुरु मैत्रेय और भी ऐसे पूर्ण भगवदीयोंके उपदेशश्रवणको अमृतोदके पानके तुल्य समझना चाहिये.

जलभेदके इस अंशपर एक स्वतन्त्र लेख लिखनेवाले श्रीश भट्टके अनुसार इन उल्लिखित भक्तोंकी परम्पराकी घरोहरको सम्हालनेकेलिए प्रकट हुए शेषावतार श्रीरामानुजाचार्य, व्यासावतार श्रीविष्णुस्वामी, अग्निके अवतार महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य, वायुके अवतार श्रीमध्वाचार्य, जडभरतके अवतार श्रीरामानन्द, नारदके अवतार श्रीचैतन्य, सनकके अवतार श्रीनिम्बार्काचार्य आदि मुख्य चार वैष्णव सम्प्रदाय तथा अवशिष्ट उपसम्प्रदायोंके आचार्य या भक्तों के उपदेश भी अमृतोदके तुल्य मानने चाहिये. स्वयम् श्रीमहाप्रभुने भी मुख्य चारों भक्तिसम्प्रदायोंका भगवत्प्रवर्तित होना तृतीय स्कन्धकी सुबोधिनीमें स्वीकारा है-''एवम् चतुर्विधोपि भगवता प्रतिपादित:'' कह कर. अत: इस श्रीश भट्टकी व्याख्यारीतिमें कोई विप्रतिपत्ति दिखलायी नहीं देती हैं.

प्राकृत या मायिक गुणोंसे रहित श्रीविष्णुके सभी अप्राकृत-दिव्य-शुद्ध सच्चिदानन्दरूप गुणोंके वर्णन-स्मरण-कीर्तन करनेवाले ये विचक्षण वक्ता अमृतोद सिन्धुके समान हैं. इनके वचनामृतका पान वस्तुत: जीवनकी सुदुर्लभ उपलब्धि है. इनमें से कुछ पुष्टिभक्तिमार्गीय और कुछ मर्यादामार्गीय हैं पर सभी अमृतोद सिन्धुके समान हैं.

विष्णुदूतोंके वचन जैसे अजामिलके कानोंमें पड़े तो उसकी कृति मति और भावना सभीमें चमत्कारिक परिवर्तन आगया. इसी तरह अकस्मात् भी इन अमृतोदके तुल्य वक्ताओंके एकाद वचन अमृतके बिन्दुपानके समान होनेसे तृप्तिप्रद न भी हों पर निश्चयेन सुखप्रद तो होते ही हैं. और जब इनके वचनामृतोंके सतत श्रवणसे राग अज्ञान, काम, क्रोध आदि मनोविकार दूर हो जाते हैं तो वह अमृतके बिन्दुपानकी तरह नहीं किन्तु लेहनकी तरह समझना चाहिये. अमृतोदके अमृतका ऐसा लेहन कि जिसमें परमानन्दकी अभिव्यक्ति हो जाती है. श्रोता कृतार्थ हो जाता है

२०.इनके अलावा अन्य जो वक्ता या उनके भाव होते हैं उन्हें इन्हीं कूप आदि उन्नीस जलस्थानोंमेंसे भरे गये अथवा गिर गये जलकी तरह समझना चाहिये. तदनुसार उनसे कथा श्रवण करनेके फलका भी यथायथ स्वरूप विचार लेना चाहिये.

इस तरह विष्णुके एकरूप गुण तत्तद् जीवोंकी वागिन्द्रिय-वाणीपर कैसे अनेकरूप धारण कर लेते है और कैसे फल उनसे मिलते हैं आदि बातोंका निरूपण सम्पूर्ण हुआ.

पञ्चपद्यानिमें वर्णित श्रोताका स्वरूप

वक्ताके अधिकार और स्वरूप तथा तदनुसार उनके मुखसे श्रवण-कीर्तनके फलके निरूपणके बाद अब श्रोताके अधिकार तथा स्वरूप का निरूपण श्रीमहाप्रभु पञ्चपद्यानिमें करते हैं.

भगवत्कथाका श्रवण-स्मरण-कीर्तन भगवत्स्वरूपसेवाके साथ-साथ सेवाके अनवसरमें चलता रहे तो वह भगवत्स्नेहके पूर्वोत्तर दल (संयोग एवम् विप्रयोग) दोनोंमें भक्तिके पूर्ण आर्विभावका उपाय बनता है. परन्तु किसी व्यक्तिको भगवत्स्वरूपसेवाकी सुविधा आजीवन सम्भव नहीं हो पाती. ऐसी स्थितिमें केवल भगवत्कथाके श्रवण-स्मरण-कीर्तनकी प्रणालीसे भी प्रेम-आसक्ति-व्यसन-सर्वात्मभाव या अलौकिकसामर्थ्य आदिके क्रमिक सोपानोंपर भक्तिका अरोहण शक्य बन जाता है.

तदनुसार सेवाके साथ-साथ जो कथाके श्रवण-स्मरण-कीर्तनका भी सतत निर्वाह कर पाते हैं वे उतम श्रोता होते हैं. अन्यथा सेवाके अनुकल्पके रूपमें जो भगवत्कथाका निरन्तर समाश्रयण करते हैं वे मध्यम प्रकारके श्रोता होते हैं. जो यदा-कदा श्रवण कर पाते हैं वे निम्न प्रकारके श्रोता होते हैं. यह एक दृष्टि श्रोताके उत्तम-मध्यम-निम्न प्रकारोंको निर्धारित करनेकी दिखलायी देती है.

दूसरी दृष्टि यह है कि शुद्धपृष्टि पुष्टिपुष्टि मर्यादापुष्टि तथा प्रवाहपुष्टि के अधिकारिभेदके अनुसार श्रोताकी त्रिविध कक्षायें निर्धारितकी जायें. शुद्धपुष्टि या पुष्टिपुष्टि आदि अधिकारोंकी पहचान पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें-पुष्ट्या विमिश्रा: सर्वज्ञा: प्रवाहेण क्रिया रता:'' में दी गयी है.

तीसरी दृष्टि श्रोताके उत्तम-मध्यम-कनिष्ठ अधिकारकी, वक्ताके ज्ञान-भक्ति-वैराग्य गुणोंके अनुरूप १. जिज्ञासुता-श्रवणोत्सुकता २. रुचि तथा ३. इतर साधनोंके दुराग्रहपूर्ण अनुष्ठान या अभिमान का अभाव, तज्जन्य शुद्र फलोंमें अनासक्ति, इस तरह तीनों गुण जिस श्रोतामें मिलते हों वह उत्तम, दो मिलते हों वह मध्यम; तथा किसी एकाद गुणका विद्यमान होना उसके निम्न अधिकारका द्योतक होता है.

चतुर्थ दृष्टि-पुष्टिमार्गीय उत्तम, मर्यादामार्गीय मध्यम; तथा प्रवाहमार्गीय या चर्षणी श्रोताको अधम माननेकी उचित होनेपर भी यहां अप्रासङ्गिक लगती है. क्योंकि पुष्टिमार्गीय जीवोंकेलिए ही श्रीमहाप्रभुने षोडशग्रन्थका प्रणयन किया है. अत: जिन जीवोंका अपुष्टिमार्गीय होना निश्चित हो उन्हें पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त

या भगवल्लीलाका उपदेश ही श्रीमहाप्रभुके अनुसार अनुमोदनीय नहीं है. जलभेदमें भी जो मर्यादामार्गीय वक्ताका स्वरूप दिखलाया गया है वह उन वक्ताओंसे पुष्टिमार्गीय उपदेशकी आशा न रखनेकेलिए ही है. क्योंकि वक्तृचयनमें अधिक सावधानी अपेक्षित है, अत: जलभेद जितना विस्तार पञ्चपद्यानिमें अपेक्षित नहीं है। पांचवी दृष्टिके अनुसार, जैसे शास्त्रार्थ प्रकरणके अन्तिम भागमें भगवत्सेवा करनेवालोंके त्रिविध अधिकार दिखलाये है-उन्हें भगवत्कथाके श्रवणाधिकारका भी उपलक्षण माने तो वह असङ्गत नहीं होगा. यथा:

जिज्ञासुता-श्रवणोत्सुकता दो तरहकी हो सकती है:१ प्रमाण (शास्त्र) तथा प्रमेय (भगवान्के स्वरूप गुणधर्म एवम् लीला) दोनोंके बारेमें; अथवा २ इन प्रमाण या प्रमेय में से किसी एकके बारेमें, इसे केवल 'शब्दनिष्ठा' तथा 'अर्थनिष्ठा' भी कहा जा सकता है

इसी तरह कथारतिके भी दो भेद सम्भव है:१।सामान्य रुचि; और २।उत्कट रति.इनके परस्पर मिश्रणसे अनेक प्रकारके विकल्प बन सकते है.यथा:

१ कथाश्रवणकी उत्कट रति एवम् कथाके उभयपक्ष-शब्द (प्रमाण) पक्ष और अर्थ (प्रमेय) पक्षमें जिज्ञासुता-श्रवणोत्सुकता रखनेवाले उत्तमाधिकारी ज्ञानी-भक्त जैसे माने जाने चाहिये।

२ कथाश्रवणमें उत्कट रति न होनेपर भी उसमें सामान्य रुचि रखनेवाले तथा कथाके उभय पक्षोंमेंसे शब्द पक्षपर भार देनेवाले शब्दनिष्ठ जिज्ञासु प्रेमके अभावके कारण मध्यमाधिकारी ज्ञानी जैसे माने जाने चाहिये.

३ कथाश्रवणमें रति रखनेवाले तथा कथाके शाब्दिक प्रमाणपक्षके बारेमें श्रवणोत्सुक न होनेपर भी अर्थ (प्रमेय) पक्षके बारेमें जिन्हें तीव्र जिज्ञासा हो ऐसे अर्थैकनिष्ठ श्रवणोत्सुकोंको ज्ञानाभावके कारण मध्यमाधिकारी भक्त मानना चाहिये.

४ जिन्हें न तो उत्कट रति और न अर्थनिष्ठा (कथाके अर्थ-प्रमेय भगवानके स्वरूप गुण या लीलाके बारेमें श्रवणोत्सुकता) ही तीव्र हो ऐसे सामान्य रुचिवाले-ज्ञान-प्रेम-उभय रहित श्रोताको कनिष्ठ निम्न या अधम कोटीका मानना चाहिये.

(दृष्टव्य शा. नि. ''एवं सर्व तत: सर्वं स इति ज्ञानयोगत: य: सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणा दिभिरुतम: प्रेमाभावे मध्यम: स्यात् ज्ञानाभावे तथादिम: उभयोरप्यभावे'', कारि. सं १०१-२)

छठी दृष्टि यह भी सम्भव है कि आरम्भके मुख्य-मध्यम-अधम श्रवणाधिकार,

क्रमशः 'रसविक्षिप्तमानस', 'रसविक्लिन्नमानस' तथा कदाचित रसावेशसे 'रसावेशविकलमानस' विशेषणोंकेद्वारा, भक्तिमार्गीय श्रवणाधिकारके रूपमें विवक्षित हैं, पांचवे अन्तिम श्लोकमें वर्णित 'अनन्यमानस' विशेषणद्वारा अन्याश्रयरहित प्रपत्तिमार्गीय श्रवणाधिकार विवक्षित है। पुष्टिभक्तको इस भूतलपर मिलती परमफलकी अनुभूति अलौकिक सामर्थ्य या तनुनवत्वका लाभ प्रपत्तिमार्गीय अधिकारीको नहीं मिलता. पर विद्यमान देहके पातके बाद उन्हे सायुज्य मोक्ष मिल सकता है। अतएव देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मन्त्र-कर्मादिके अन्याश्रयके त्यागके कारण इन अधिकारियोंके उत्तम होनेपर भी, विद्यमान देहादिसे भूतलपर परम फलकी अनुभूतिसे वञ्चित होनेके कारण, उन्हें 'मर्त्य' कहा गया है. क्योंकि श्रीकृष्णसायुज्यका लाभ इन्हे मृत्युके पश्चात ही होता है. पञ्चपद्यानिके प्रथम चार श्लोकोमें वर्णित अधिकारियोंको 'मर्त्य' नहीं कहा इससें उनका भक्तिमार्गीय होना ध्वनित होता है.

सर्व। निबन्धमें-''सर्वत्यागेऽनन्यभावे कृष्णमात्रैकमानसे सायुज्यं कृष्णदेवेन शीघ्रमेव ध्रुवम् फलम्'' कारिकाके प्रकाशमें-''एवं देहपातनपर्यन्तं कृष्णैकमानसस्य सायुज्यं शीघ्रमेव भवति कायवाग्विनियोगाभावेपि स्वस्नेहाभावेपि मनोमात्रस्थितौ फलमेतद्'' कहकर प्रपत्तिमार्गीय जीवके 'अनन्यमानस' होनेपर उसे उत्तमाधिकारी माना है.

इन विभिन्न दृष्टीकोणोंसे श्रवणाधिकारका विचार करनेपर पञ्चपद्यानिके पांच पद्योंमें: भिन्न-भिन्न कक्षाके पांच अधिकारियोंकी चर्चा है-मुख्याधिकारी एकविध है और अमुख्याधिकारी त्रिविध यों कुल चार प्रकारके अधिकारियोंकी चर्चा है-'मुख्य' तथा 'उत्तम' को पर्यायवाची शब्द मानकर तथा उपक्रम और उपसंहार में एक ही अधिकारीको विवक्षित मानकर कुल त्रिविध अधिकारियोंकी चर्चा है-इनमें से इदमित्थतया किसी एक व्याख्यारीतिका समर्थन जरा कठिन काम है. फिर भी मुख्य और अमुख्य तथा भक्ति और प्रपत्ति के भेदको लक्ष्यमें रखकर आरम्भके प्रथम श्लोकमें मुख्य भक्तिमार्गीय श्रोताका निरूपण तथा अवशिष्ट चार श्लोकमें भक्तिमार्गीय द्विविध अमुख्य श्रोता तथा एक प्रपत्तिमार्गीय श्रोताका वर्णन है ऐसा सोचनेमें कोई असङ्गति सामने नहीं आती है। क्योंकि जो बात श्रीमहाप्रभु कह रहे हैं पांच श्लोकोमें वह इस तरह है:

(क) दशमस्कन्धके सातवें अध्यायकी ''यच्छृण्वतोपेत्यरतिवितृष्णा सत्वं च शुद्धत्यचि रेण पुंसः भक्तिर्हरौ तत्पुरुषे च सख्यं तदेव हारं वद मन्यसे चेत्''

कारिकाकी सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुने भगवत्कथाके पांच परिणाम गिनाये हैं.

१ भगवन्त्-चरित्रमें अरतिकी निवृत्ति

२ भक्तिका प्राकट्य

३ सांसारिक तृष्णाकी निवृत्ति

४ सत्त्व-अन्तःकरणकी शुद्धि

५ भगवदीयोंके सत्सङ्गरूप सख्यकी वृद्धि

ये पांच परिणाम जिस श्रोतामें प्रकट होने जा रहे हों उसे भगवत्कथाके श्रवणका मुख्याधिकारी मानना चाहिये. अतएव श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि भक्तिरसके आलम्बन-विभावरूप श्रीकृष्णके नामात्मक स्वरूपकी कथाश्रवण-कालमें बाह्यानुभूति तथा भक्तिरस के स्थायिभावरूप (माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेह) रसकी आन्तर अनुभूतिके चक्रके तीव्रवेगसे चल पड़नेके कारण जिनका मानस विक्षिप्त सा हो जाता है, उनकेलिए भगवत्कथा दुस्त्यज हो जाती है. अर्थात् वे चाहें या न चाहें उनकी वाणी और कर्णेन्द्रिय निरन्तर भगवत्कथा करते रहने और सुनते रहेनेके व्यसनवाली हो जाती है.

ऐसे कृष्णरसविक्षिप्तमानस श्रोताओंकी भगवच्चरित्रमें से अरति निवृत्त हो जाती है अतः उन्हे 'अरतिवर्जिता' कहा जाता है.

इनका चित न तो लौकिक विषयोंकी ओर आकृष्ट होता है और न वैदिक मोक्षादि फलोंकी ओर ही. सांसारिक विषयोंमें तृष्णाबन्धनके टूट जानेसे इन्हें इन विषयोंमें निर्वृति अर्थात् सुख-सन्तोषकी अनुभूति नहीं होती.

भगवत्कथाकी प्रणालीसे इनके सत्त्व-अन्तःकरणकी शुद्धि हुई होनेंसे केवल ज्ञानी या विरक्तों की तरह वैदिक फल स्वर्ग-मोक्ष-अपवर्गकी कामना भी इनके मनमें रह नहीं जाती अतः इन्हे वेदमें भी अनिर्वृत्ति हो जाती है.

ऐसे श्रोता भगवल्लीलाके श्रवणकी उत्सुकताके कारण निरन्तर भगवदीयोंका सख्य या सत्सङ्ग खोजते रहते हैं.

निरोधकी सिद्धिके कारण इन्दें भक्तिमार्गीय मुख्य श्रवणाधिकारी समझना चाहिये.

(ख) कुछ श्रोताओंका मन श्रीकृष्णभक्तिके रससे इतना आर्द्र-क्लिन्न हो पाता है कि कथाश्रवणकी वेलामें ये भगवत्स्मृतिसे बिव्हल हो जाते है. भगवत्कथाके शाब्दिक प्रमाणपक्षमें इनकी रुचि तीव्र नहीं होती. परन्तु अर्थनिष्ठा कथाके प्रमेय

अर्थात् भगवत्स्वरूप-गुणधर्म-लीलाके श्रवणमें इनकी निष्ठा बड़ी प्रबल होती है, इसी अर्थनिष्ठाके कारण इनमें ज्ञानकी लालसा कम होनेपर भी प्रेमकी स्पष्ट विद्यमानताके कारण इन्हे भक्तिमार्गीय मध्यम कक्षाके श्रवणाधिकारी समझना चाहिये.

(ग) कुछ अन्य श्रोताओंमें ऐसी अर्थनिष्ठा नहीं होती पर शब्दनिष्ठा तीव्र होती है. फलतः प्रमाण विवेचनकी प्रक्रियाद्वारा इन्हें निःसन्दिग्ध ज्ञानके प्राप्तिकी लालसा रहती है. ऐसे श्रोताओंकी आस्था तो स्पष्ट होती है कि केवल श्रीकृष्ण ही सर्वभावसे भजनीय है परन्तु भाव निरन्तर उद्बुद्ध नहीं होता रहता.कभी-कभाक कथारसके आवेशके कारण अथवा प्रपञ्च-विस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिकी तात्कालिक अभिव्यक्तिके कारण ये स्नेहविकल हो पाते है; अन्यथा ज्ञानिजनोचित स्वास्थ्य() इनका बना रहता है.

तात्कालिक पूर्ण भावोदयके कारण यह पूर्ण अर्थनिष्ठा भी इनकी तात्कालिक ही होती है. अतएव ये कथाश्रवणकालकी तन्मयताके बाद पुनः अन्यासक्त हो जाते है. ये भक्तिमार्गके अन्तर्गत कनिष्ठ प्रकारके श्रवणाधिकारी है.

घ।प्रपत्तिमार्गीय जीव अन्यमार्गीय श्रोताओंकी अपेक्षा उत्तमाधिकारी माना जा सकता है, पर शर्त इसमें यह है कि देश-काल-द्रव्य-कर्ता मन्त्र-कर्म आदि अनेकविध धार्मिक साधनोंके अभिमानोंको छोड़कर श्रीकृष्णके स्वरूप-गुणधर्म-लीलाओंके श्रवण-स्मरण-कीर्तनमें जब उसके मनकी अनन्यरुचि पनप जाये. यह प्रपत्तिमार्गीय श्रवणाधिकार अन्य मर्यादामार्गीय कर्मज्ञानोपासनाके अधिकारोसे तो उत्तम ही होता है.

इस तरह वक्ता एवम् श्रोताके अधिकारोंका विवेचन यहां सम्पूर्ण होता है.

प्रस्तुत संस्करण वि. सं. १९७६में प्रकाशित संस्करणका ओफसेट प्रोसेसद्वारा पुनर्मुद्रितरूप हैं. उस संस्करणमें इन दो ग्रन्थों जलभेद और पञ्चपद्यानिके अलावा परिशिष्टके रूपमें सेवाफलकी तीन टीकायें भी प्रकाशित हुई थी. उन्हे यथास्थान रखनेके उद्देश्यसे यहां प्रकाशित नहीं किया गया है. उक्त संस्करणके सम्पादक श्रीमूलचन्द तुलसीदास तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल व्रजदास सांकलिया और प्रकाशक गोस्वामी १००८ श्रीजीवनलालजी महाराज (पोरबन्दर) थे. इन सभी महानुभावोंका हम इस पुनःप्रकाशनके अवसरपर हार्दिक कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते है.

जलभेदः।

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान्।
भावान् विंशतिधा भिन्नान् सर्वसन्देहवारकान्।।१।।
गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः।
गायकाः कूपसङ्काशा गन्धर्वा इति विश्रुताः।।२।।
कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि सम्मताः।
कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारम्पर्ययुता भुवि।।३।।
क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः।
वेश्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिता।।४।।
जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः।
ह्रदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः।।५।।
सन्देहवारकास्तत्र सूदा गंभीरमानसाः।
सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः।।६।।
अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः।
कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतिभक्तयः।।७।।
योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः।
तपोज्ञानादिभावेन स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः।।८।।
अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः।
कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः।।९।।
देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेरिवोद्गताः।
साधनादिप्रकारेण नवधाभक्तिमार्गतः।।१०।।
प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः।
यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः।।११।।
स्थावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः।।
अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा।।१२।।

सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि।

निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः।।१३।।

एतादृशाः स्वतन्त्रास्ते सिन्धवः परीकीर्तिताः।

पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः।।१४।।

जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः।

लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान्।।१५।।

वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः।

गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिणः।।१६।।

सर्वानेव गुणान्विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः।

तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम्।।१७।।

तादृशानां क्वचिद्वाक्यं दूतानामिव वर्णितम्।

अजामिलाकर्णनवद्बिन्दुपानं प्रकीर्तितम्।।१८।।

रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा।

तदा लेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम्।।१९।।

उद्धृतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्तथा।

उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः।।२०।।

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि।

रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः।।२१।।

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रकटितो जलभेदः समाप्तः ।

।।श्रीकृष्णाय नमः।।

जलभेदः।

श्रीकल्याणरायविरचितविवृतिसमेतः।

भावितं विविधैर्भावैः प्रेष्ठभावियता मुहुः।भावये राधया कृष्णं भवितुं भावभावुकः।।१।।

यद्वाक्पीयूषभावानां भावनादभवो भवः।भावये तान्निजाचार्यपदो भावोपलब्धये।।२।।

श्रीकृष्णे केवलभावेनापि ''केवलेन हि भावेने''ति वाक्यात् तत्प्राप्तेः 'नैष्कर्म्यप्यच्युतभाववर्जितम्' इत्यादिभिर्भावहीनस्य ज्ञानादेरप्यसमर्थत्वाद स्नेहभोजनमिव भावहीनं सर्वम् इति श्रीवल्लभाचार्यचरणाः स्वीयानां भावपोषार्थं कृपया भावनिरूपणं प्रतिजानते **नमस्कृत्य** इति।

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान्।

भावान् विंशतिधा भिन्नान् सर्वसन्देहवारकान्।।१।।

नमसो गतिसंज्ञकत्वात् कुगतिप्रादय इति समासादत्र ल्यप् विसर्गस्य सकारो 'नमस्पुरसोर्गत्यो'रिति। ''यो भावान् भक्तमाहात्म्यं ज्ञापयित्वोद्धवादिषु। अहरत्सर्वदुःखानि वन्दितोभीष्टदोस्तु स'' इति आशयेन आहुः **हरिं नमस्कृत्य** इति। भगवति नमनातिरिक्तस्य कर्तुमशक्यत्वात्। **वक्ष्य इति**। निरूपिता भावाः प्रथमत आत्मने फलन्तीत्यात्मनेपदम्। **तद्गुणानां विभेदकान् इति**। ते प्रसिद्धाश्च ते गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि तेषां **विभेदकान्** निवर्तकान् इति अर्थः। यद्वा। भगवतो ये गुणा धर्मास्तेषां निवर्तकान्। भगवतो भक्तार्थं सर्वसमत्वादेस्त्यागात्। ''ये भजन्ति इति'' वाक्यात्। यद्वा तेषां जीवानां गुणा धर्मास्तेषां वैलक्षण्यसम्पादकान् इति अर्थः। अथवा भगवतो ये धर्मास्तानानीयात्र दायकान् इति अर्थः। **भावान् विंशतिधा भिन्नान् इति। भाव**शब्दस्यानेकार्थत्वेप्यत्र स्नेहस्तज्जन्याश्चावस्थाविशेषा भावा उच्यन्ते। 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयते' इत्यादिभिः स्नेहाभिधानात्। गुणभेदैः कृत्वा विंशतिप्रकारैर्भिन्नान्। **सर्वसन्देहवारकान्** इति। विधेयविशेषणमेतत्। भगवद्भजने सर्वेषां साधनानां स्वरूपतः फलतश्च ये सन्देहास्तन्निवारकान्। यद्वा। भावैर्भगवति स्फुरिते सर्वे सन्देहाः स्वत एव निवर्त्स्यन्ति इति अर्थः।।१।।

भावानां स्वत एकस्वरूपत्वेपि गुणभेदैरेव भेदाद्भावभेदकान् गुणभेदानेवाहुः

गुणेति।

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः।

गायकाः कूपसङ्काक्षा गन्धर्वा इति विश्रुताः।।२।।

जले यावन्तो भेदा वेदेन सम्मता ज्ञाता वा तावन्तो गुणभेदास्तथेत्यर्थः। वेदोक्त जलभेददृष्टान्तकरणाद्भावानां शुद्धत्वा लौकिकत्वतापहारकत्व शोधकत्वाप्यापकत्वानि ध्वनितानि। अत्र ''कूप्याभ्यः स्वाहे''त्यारभ्य ''सर्वाभ्यः स्वाहे''त्यन्ता तैत्तिरीयश्रुतिरनुसन्धेया।

तत्र प्रथमं गानप्रियत्वाद्गोविन्दस्य गायकानां भावम् आहुः–गायका इति। गन्धर्वा इति प्रसिद्धाः गाननिपुणाः कूपतुल्यास्तेषां भावः तज्जलतुल्य इति अर्थः। यथा कूपजलं जाड्यकाले कोष्णत्वाज्जाड्यनिवर्तकमुष्णकाले शीतलत्वात्तापनिवर्तकं व्यवह्रियमाणं वर्धते, समीचीनं च भवति, तथैतेषां भावोतिजाड्ये पुंसि जाड्यनिवर्तकः, संसारतप्ते तापनिवर्तको गीयमानो वर्धते, समीचीनश्च भवति। यथा रज्ज्वादिभिः कूपजलं गृह्यते तथा गानद्वारैवैतेषां भावो ग्राह्यः।।२।।

ननु गायकाः सर्वे तुल्या एव नेत्याहुः **कूपभेदास्तु इति।**

कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि सम्मताः।

कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारम्पर्ययुता भुवि।।३।।

यथा केचित् कूपाः स्वादुपरिणामसुखकारिजलाः, केचिदमिष्टजलाः केचित् क्षारजलाः, तिक्तजलाः, परिणामदुःखजलाश्च, तथा गायका अपि पुरुषोत्तमद्विभूतिगुणावतारांशादिलीलाभेदेन भगवन्तं गायन्तः सत्त्वगुणादिभिरुपलक्षिताश्चाकामा मोक्षकामाः स्वर्गकामा लौकिककामाश्चेति बहुधा इति पूर्वोक्तकूपविशेषैस्तुल्या इति तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति अर्थः। अत एवोक्तं कपिलदेवैर्देवहूतिं प्रति। ''भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते। स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते। अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भमात्सर्यमेव च। संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात् स तामसः। विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा। अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः। कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम्। यजेद्यष्टव्यम् इति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये। मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोम्बुधौ। लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्याप्युदाहृतम्। अहैतुक्यप्रतिहता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।'' इत्यादि। अत एव स्वभावभूतानां गुणानां मार्गेण वृत्तिभेदेन पुंसामभिप्रायो भिद्यते इति

फलसङ्कल्पभेदाद्भक्तिभेद इति गुणानां मिश्रणेन तामसादिभक्तिषु त्रयस्त्रयः प्रकारा इति श्रवणादिषु प्रत्येकं नवनव भेदा इति सगुणा भक्तिरेकाशीतिप्रकारा, निर्गुणा त्वेकविधैवेति द्व्ययशीतिप्रकारा भक्तिः प्रथतेतराम्। तदेव श्रीमदस्मत्प्रभुचरणैर्भक्तिहंसे निरूपितम्। ''श्रवणादिनवकमप्यधिकारिभेदेन। क्रियमाणं सत्कर्मज्ञानोपासनाभक्ति मार्गीयत्वेनानेकविधं भवति इति।'' द्वितीयं भावम् आहुःकुल्याः पौराणिका इति। कुल्या अल्पा कृत्रिमा सरित्। पुराणमधीयते विदन्ति वा पौराणिकाः पुराणेतिहासपाठकाः कृत्रिमाल्पनदीतुल्याः, तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति अर्थः। यथा भूमौ कुल्या जलाशयेन पारम्पर्ययुताः परम्परासम्बद्धास्तथा एतेपि भुवि पुराणर्थप्राप्तौ पारम्पर्ययुताः सद्गुरूपदेशादवगतपुराणार्थाः। सद्गुरूपदेशं विना श्रीभागवतविष्णुपुराणदौ भाषात्रयासुरव्यामोहकलीलास्वरूपाज्ञाने सर्वमनर्थकं स्यात्। यथा प्रत्यहं यत्ने क्रियमाणे कुल्या प्रवहति, नान्यथा, तथा पुराणपाठ एव तेषां भावोदयो, नान्यदेति दृष्टान्तेन सूचितम्।।३।।

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः।

वेश्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिता।।४।।

तृतीयं भावम् आहुः–क्षेत्रप्रविष्टा इति। च पुनस्ते पूर्वोक्ताः। ''क्षेत्रं पत्नीशरीरयो''रिति कोशाद्देहकुटुम्बयोः पोषार्थं पुराणेतिहासपाठकाः स्वसंसारस्योत्पत्तिहेतवो भवन्ति इति अर्थः। कुल्याजलान्यपि क्षेत्रप्रविष्टानि सम्यक् सारस्यान्नस्योत्पत्तिहेतवो भवन्ति। न बहिरन्तःशुद्धिहेतुस्नानाचमनादौ हेतवस्तथैतेपि न स्वर्गापवर्गहेतवो भवन्ति। अपिशब्दात् क्षेत्रप्रविष्टा गायका अपि संसारहेतवो भवन्ति इति अर्थः। अत एवोक्तं भक्तिहंसे ''वृत्त्यर्थं चेत् कृषिवल्लौकिक एवे''ति। गीतायां च ''ये यथा मां प्रपद्यन्त'' इति। श्रीभागवते चोक्तम्। ''यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्। आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः। त्वत्पादुके ह्यविरतं परि ये चरन्ति ध्यायन्त्यभद्रनशने शुचयो गृणन्ति। विन्दन्ति ते कमलनाभभवापवर्गमाशासते यदि त आशिष ईश नान्य'' इति। चतुर्थं भावम् आहुः। **वेश्यादिसहिता** इति। आदिपदात् कुलटातत्सङ्गिद्यूतादय उच्यन्ते। ''न तथास्य भवेन् मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः। योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गत'' इति कपिलदेववाक्यात्। एतादशा गायका गर्ततुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति अर्थः। यदि विषयैर्बाध्यमाना अपि दुराचारा अपि समयभेदेनापि भगवन्तमेव भजेयुस्तदापि समीचीना भवेयुस्तदपि नास्तीत्याहुः **मत्ता** इति। अतः स्वस्वाम्यनुसन्धानरहिताः। नह्येते प्रीत्या माहात्म्यधिया वा कृष्णं गायन्ति,

किन्तूत्तमस्वरगीतवशात् कदाचिदतो गर्ततुल्या एवेत्यर्थः। अतो नैषां भावस्य कूपकुल्याजलवदाप्यायकत्वादिगुणयोग इति अर्थः। अमत्तास्तु कूपभेदेषु ज्ञेयाः।।४।।

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः।

ह्रदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः।।५।।

पञ्चमं भावम् आहुः जलार्थमेवेति। प्रक्षालनोच्छिष्टजलपक्षेपार्थमेव ये गर्तास्तत्तुल्या नीचा गानोपजीविन इति अर्थः। नीचत्वेन बाह्योत्कर्षाभावाद्गानोपजीवनेनान्तरोत्कर्षाभावादुच्छिष्टजलगर्ततुल्यत्वेमेवैषां, तेनोच्छिष्टगर्तजलवत्तेषां भावो न सद्भिर्ग्राह्य इति अर्थः। यद्वा। जलनिःसरणार्थं गर्ता इति अर्थः। पौराणिकनिरूपणानन्तरं पुनर्यद्गायकनिरूपणं तदेतादृशानां पौराणिकानामेतद्गायकतुल्यत्वज्ञापनार्थम्। षष्ठं भावम् आहुः ह्रदास्तु इति। तुशब्दः पण्डितप्रकरणबोधनार्थः। भगवच्छास्त्रं गीताभागवतादिकं तत्र तत्पराः। न तु मायावादादिमते। एतादृशाः पण्डिता ह्रदतुल्यास्तेषां भावो ह्रदजलतुल्य इति अर्थः। यथा ह्रदजलमन्तःशीतलत्वादगाधत्वाच्च नातपेन पश्वादिभिश्च तापयितुं कलुषयितुं वा शक्यमेवामेषां भावोपि सांसारिकतापेन कुतर्कादिभिश्च न तापयितुं कलुषयितुं वा शक्य इति भावः।।५।।

सन्देहवारकास्तत्र सूदा गंभीरमानसाः।

सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः।।६।।

सप्तमं भावम् आहुः सन्देहेति। भगवच्छास्त्रे सन्देहवारकाः गम्भीरं मानसं येषामित्यन्तर्निष्ठा एतादृशाः पण्डिताः। सुष्ठु उदकं येषां तादृशह्रदविशेषतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति अर्थः। यथोत्तमोदकानां जलं मनः प्रसादहेतुरप्येवं भगवच्छास्त्रसन्देहवारकानामन्तर्निष्ठानां भावोपि मनःप्रसादहेतुरपि इति भावः। वाप्यो वा सूदा उच्यन्ते। अष्टमं भावम् आहुः **सरःकमलसम्पूर्णा इति**। भगवच्छास्त्रे सन्देहवारकाः अन्तर्निष्ठा वा ज्ञातारः प्रेमयुक्ताः सन्तः, सरःसम्बन्धिकमलानि सम्पूर्णानि यासु तादृश्य आप एतत्तुल्यभावा इति अर्थः। जलाशयं विहायात्र जलदृष्टान्तकरणादेतेषामपि भावतुल्यत्वं सूचितम्। यथा एतादृश्य आपः सकलेन्द्रियसुखहेतवः कमलसौरभभृङ्गसारसादिसाहित्यात् तथैतेषां भावा अपि इति भावः।।६।।

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः।

कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतिभक्तयः।।७।।

नवमं भावम् आहुः अल्पेति। अल्पं श्रुतमध्ययनं येषां ते प्रेमयुक्ताः सन्तो वेशन्तो अल्पसरस्तत्तुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति अर्थः। दशमं भावम् आहुः **कर्मशुद्धा** इति। कर्मभिः शुद्धाः, कर्माणि कृत्वेश्वरे ये समर्पयन्ति तेषां कर्म चित्तशोधकं भवति इति कर्मशुद्धाः। ''यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्''इति भगवद्वाक्यात्। एते पल्वलमल्पसरोविशेषस्तत्तुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति अर्थः। अल्पा श्रुतिः पुराणादिश्रवणं भक्तिर्येषाम्, अल्पश्रुत्या वा भक्तिर्येषाम् इति तेपि तथा, पल्वलजलतुल्या इति अर्थः। यथा वेशन्तपल्वलयोरल्पतडागत्वात्तज्जलं पूर्वं निर्मलमपि वराहाद्यवगाहितं कलुषं भवति, तथा ''अग्निहोत्रं जुहुयात्'' ''स्वर्गकामः अग्निष्टोमेन, स्वर्गकामो यजेते''त्यादिवाक्यात् सकामानामेव यागाद्यधिकारात् फलाश्रवणेपि विश्वजिन्न्यायेन फलकल्पनान्नेश्वरार्पणार्थं कर्म कर्तव्यम्, किन्तु फलार्थमेव, यागानधिकारिणामेव भक्तावधिकार इत्यादिभिः कर्मजडानामसद्वादैस्तेषामपि भावः कलुषो भवति। तेषां ''मत्कर्मपरमो भव, मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि, मन्मना भवे''त्यादिप्रमाणानामज्ञानाद् इति अर्थः। वेशन्तपल्वलयोर्लोके पर्यायत्वेपि ''वेशन्तीभ्यः स्वाहा, पल्वल्याभ्यः स्वाहे''ति श्रुत्या तयोर्जलयोर्भेदनिर्देशात्। स्वादुसौरभादिततदभावाभ्यां वा भेदो ज्ञेयः।।७।।

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः।

तपोज्ञानादिभावेन स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः।।८।।

एकादशभावम् आहुः **योगाध्यानात् इति योगोष्टाङ्गः,** ध्यानं प्रादेशमात्रादेः, आदिपदाद् बाह्यपदार्थास्स्मृतिः, एतत्समानाधिकरणा गुणा भावा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः। वृष्टिजलतुल्याः कथिता इति अर्थः। यथा वृष्टिसमये वृष्टिजलं सर्वदेशं व्याप्नोति, सर्वत्र सुलभमाधारगुणमादाय कार्यविशेषमन्नादिकं च जनयति, तथैतेषां योगादिसमय एव भगवद्भावो देहेन्द्रियादि सर्वं व्याप्नोति, सुलभः पात्रविशेषे स्वसजातीयं भावविशेषं च जनयति, अत एव संयुक्ता इत्यनेन सम्यग्योगो निरूपित इति भावः। द्वादशं भावम् आहुः। **तपोज्ञानदिभावेन इति।** तपः पञ्चाग्निसहनादि, ज्ञानं जीवात्मनः, आदिपदाद्वर्णाश्रमाचारश्च, प्रत्येकमेतान्येव भावस्तपोज्ञानादिभिर्वा यो भावस्तेनोपलक्षिताः वक्ताः स्वेदजलतुल्याः कथितास्तेषां भावः स्वेदजलतुल्य इति अर्थः। केचित् तपसैव भगवानाराध्य इति मन्यन्ते। वस्तुतो भक्तिप्राप्य एव। ''मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौजस्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः। नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाये''त्यादिवाक्यैः।

केचिदितरभिन्नत्वेन स्वात्मज्ञानान्मोक्ष इति तदेव भजनम् इति मन्यन्ते। वस्तुतस्तु ''तमेवं विद्वानमृत इह भवती''त्यादेर्भगवज्ज्ञानमेव मोक्षसाधनम्। ''श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धय'' इति वाक्ये केवलात्मज्ञानस्य निन्दितत्वाच्च। केचित्तु ''वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्। विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम्'' इति वाक्याद्वर्णाश्रमाचारमेव भगवद्भजनं मन्यन्ते। तदपि न विचारक्षमम्। वर्णाश्रमाचारस्याधिकारिविशेषणत्वादाराधनं तु श्रवणादिरूपं भिन्नमेव। ''धर्मः सत्यदयोपेतः, धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसाम्, विप्राद्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठम्। मन्ये तदर्पितमनोवचने हितार्थः प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमान'' इत्यादिभिर्भगवद्भजनाभावे भगवद्वैमुख्ये च धर्मस्याप्रयोजकत्वनिरूपणात्। ''वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः। स एव मद्भक्तियुक्तो निःश्रेयसकरः पर'' इति भगवतोद्धवं प्रत्याचारभक्त्योर्भेदेन निरूपणात्। द्विजपत्न्यनुग्रहे द्विजैर्भगवद्वैमुख्ये त्रिवृद्विद्यादीनां धिक्कारोक्तेश्च। ''ये त्विहासक्तमनस'' इत्यादिवाक्यैः सर्वकर्माणि कुर्वतामपि भगवद्वैमुख्योक्तेश्च। अत एव ''परमापदमापन्नो हर्षे वा समुपस्थिते। नैकादशीं त्यजेद्यस्तु यस्य दीक्षास्ति वैष्णवी।'' ''समात्मा सर्वजीवेषु निजाचारादविच्युतः। विष्ण्वर्पिताखिलाचारः स हि वैष्णव उच्यत'' इत्येभिः पुराणवाक्यैर्माधवाचार्यैः कालमाधवीये वैष्णवलक्षणमभिधाय वैष्णवस्मार्तयोर्भेदो निरूपितः। वर्णाश्रमाचारस्यैव भजनरूपत्वे सम्प्रत्युक्तसकलविरोधात्। यथा स्वेदजलं न शुद्धिहेतुस्नानाचमनाद्युपयोगि तर्षनिवर्तकं तापहारकं वा भवति, तथैतेषां भावोपि इति भावः।।८।।

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः।

कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः।।९।।

त्रयोदशं भावम् आहुः **अलौकिकेनेति**। महदनुग्रहादिना प्राप्तज्ञानेन ये सर्वदुःखहर्तुर्गुणा ऐश्वर्यादयः प्रोक्ताः कदाचिदेव प्रतीयमानाः वेदादिगम्यास्ते गुणाः दूरात् पर्वतादेर्धारारूपेण पततां जलानां ये शब्दास्तत्सदृशाः प्रकीर्तिताः कथिता इति अर्थः। यथा धाराजलशब्दाः (पर्वतपतित) धाराजलानां ज्ञापकास्तथोच्यमाना **भगद्गुणा** अपि वक्तृणां धाराजलसदृशभावज्ञापका इति अर्थः। यथा धाराजलं नैर्मल्यशैत्यमाधुर्याविच्छेदयोगाद्दर्शनस्पर्शस्नानाचमनपानादिभिर्मनोहारि तापहारि सौहित्यसुखकारि, तथैतेषां काव्यादिषु प्रतीयमानो भावोपि इति भावः।।९।।

देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेरिवोद्गताः।

साधनादिप्रकारेण नवधाभक्तिमार्गतः।।१०।।

प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः।

चतुर्दशं भावम् आहुः **देवा** इति। श्रीपुरुषोत्तमव्यतिरिक्तानां देवानामादिपदात् पितृमातृपतिज्येष्ठभ्रात्रादय उच्यन्ते। एतेषामेव उपासनेऽयमेव देवः परमेश्वरो, वयं परमेश्वरभजनमेव कुर्मः। पितैवास्माकमीश्वरः, पितृसेवां विष्णुभजनमेव कुर्म इत्येवमादयो ये उद्भूता भावास्ते, अथ च देवाः शिवादयः आदिपदाद् यक्षरक्षःपिशाचादयः। तेषां देवादीनामुपासनमुद्भूतमुद्गतं येषु भगवद्भावेषु ते भावा देवाद्युपासनेन सह वोद्भूता भगवद्भावस्ते च भूमेरूद्गताः पृष्वा इव। ''अवश्या यजन्याः पृष्वा'' इति वेदभाष्ये। पृष्वा जलबिन्दवस्तुषारकणाः जलबुद्बुदा वा त इवेत्यर्थः। तेषां भ्रान्त्या भजनात्तुल्यतयैव सर्वभजनाच्च। महापुरुषाणां भगवद्भक्तानां भजनं तु भगवत्प्रीतिभक्तिशुद्ध्यादिसाधकत्वा

द्भिन्नरूपमेव। अत एव श्रीभागवते ''मद्भक्तपूजाभ्यधिका। तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्। भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः। प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः। स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम्। सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदः। न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तपआदिभिः। यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया। किरातहूणान्ध्रे''त्यादि। पित्रादिसेवायाः स्वर्गादिसाधकत्वान्न भगवत्फलसाधकत्वम्। अत एव भगवता गीतायां ''येप्यन्यदेवताभक्ता'' इति अत्र, स्वयजने विधिपूर्वकत्वाभाव उक्तो, विध्यभावे कर्मणि फलाभाववदत्रापि भगवत्फलं न भवति इति आशयेन। ([1]''यान्ति मद्याजिनोपि माम्। देवान् देवयजो यान्ति'' इतिवाक्यैः पुरुषोत्तमभजनकर्तुरेव पुरुषोत्तमप्राप्तिस्तस्यैव भगवान् योगक्षेमं वहति इति पुरुषोत्तमप्राप्तौ पुरुषोत्तमभजनमेव विधिर्नतु केनापि प्रकारेणान्यभजनम् इति अत्र विध्यभावात् फलाभावो युक्त इति भावः।) यथा बिन्दवस्तुषारकणाः बुद्बुदजलं वा न स्नानाचमनपानादिभिः शुद्धितृप्त्यादिसाधकं तथैतेषां भावोपि न शुद्ध्यादिसाधक इति अर्थः। पञ्चदशं भावम् आहुः। साधनादिप्रकारेण इति। साधनमादिः फलात् यस्मिन् प्रकारे तेन प्रकारेण नवधा भक्तिरेव मार्गो भगवत्प्राप्तिसाधनं तस्मात् क्रमेण प्रेमपूर्त्या स्फुरन्तो धर्मा येषां श्रवणादयो

---

१. () एतच्चिह्नान्तरितभागः प्राचीनपुस्तकेषु न दृश्यते।

नटवेशादयो वाते स्यन्दमानाः प्रस्रवणजलतुल्यभावाः प्रकीर्तिता इति अर्थः। भक्तिमार्गे मर्यादया भगवदङ्गीकारादकामोपहतैरखिलवर्णाश्रमधर्मैः सत्त्वशुद्धौ भगवद्भक्तिरेव पुरुषार्थ इति शास्त्रार्थनिश्चयाच्छ्रवणादिभिस्तेषां भाव इति। यथा पर्वतोपरि वृष्टिडागादिसद्भावे प्रस्रवणजलं वर्धते तदभावे ह्रसत इति तत्सापेक्षं शुद्ध्यादिहेतुश्च, तथैतेषां भावोपि साधनानुसारी शुद्ध्यादिहेतुश्चेति भावः। इदमेवोक्तं भक्तिहंसे। ''आद्यस्तु तत्साधने भवति प्रवृत्तस्तथैव तद्वरणात्, परन्तु स्नेहोत्पत्तिपर्यन्तं विधिरेव तत्र प्रयोजकस्तदुत्पत्त्यनन्तरं च रागादेव तत्सम्बन्धिपदार्थे यतिष्यत इति विधेरप्रयोजकत्वम्'' इति। एकादशस्कन्धे च ''भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेनघ। पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम्। श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम्। परिनिष्ठा तु पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम। आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम्। मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः। मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम्। मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम्। मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च। इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः। एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्। मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्थोऽस्यावशिष्यते'' इत्यादिभिर्निरूपितम्। नवधा भक्तिस्तु ''श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्। इति पुंसार्पिता विष्णोर्भक्तिश्चेन्नवलक्षणा। क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्'' इति प्रह्लादैर्निरूपिता।।१०।।

यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः।।११।।

स्थावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः।।

षोडशं भावम् आहुः यादृशा इति। यादृशाः पूर्वमव्यवधानेन, प्रोक्तास्तादृशा वृद्धिक्षयविवर्जिताश्चेत्, मर्यादैकप्रतिष्ठिताः मर्यादायामेव केवलाः प्रतिष्ठिताः, न तु ततोधिकविशेषाङ्गीकारयुक्तास्ते स्थावरा आपः स्थिरजलतुल्यभावाः समाख्याता इति अर्थः। यद्वा ये केचित् येनकेनचित् प्राप्तवृद्धिक्षयविवर्जितप्रेमाणस्ते तथाप्रोक्ता इति अर्थः। अत एव प्रेमस्वरूपं श्रूयते। ''आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि क्षीयेतापि न चापराधविधिना नत्या न यद्वर्धते। पीयूषप्रतिवादिनस्त्रिजगतीदुःखद्रुहः साम्प्रतं प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य करवै वाङ्निष्ठता लाघवम्''इति। यथैतज्जलं नातपेन शुष्यति स्नानादिहेतुश्च भवति, तथैतेषां भावोपि न संसारतापकुतर्कादिभिर्गच्छति शुद्ध्यादिहेतुश्च भवति इति भावः।।११ १/२।।

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा।।१२।।

सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि।

निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः।।१३।।

सप्तदशं भावम् आहुः अनेकजन्म इति। ये भावा अनेकजन्मसु ''जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः। नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते'' इति वाक्यात् तपोध्यानसमाधिभिः सम्यक्सिद्धाः तज्जन्मारभ्य सदा भुवि आधारभूते चात्मनि सङ्ग सत्सङ्गः आदिपदाहन्नकालविशेषदेशविशेषाः दुष्टसङ्गादयश्च तेषां यौ गुणदोषौ ताभ्यां क्रमेण वृद्धिक्षययुताः, निरन्तर उद्गम उद्भवो गमनं च तेन युताः। एतादृशास्ते भावा नद्यः स्वतोऽसमुद्रगामिनदीजलतुल्याः परकीर्तिता इति अर्थः। यथा नदीजलं वृष्ट्यातपाभ्यां वृद्धिक्षयवद्भवति, भूमिपर्वतादिगुणदोषाभ्यां गुणदोषवद्भवति, शुद्धितृप्त्यादिहेतुश्च भवति, तथैते भावा अपि तपोध्यानसमाधिसाध्यपापक्षयद्वारा जनिता इति शुद्ध्यादिहेतवः सत्सङ्गादिभिर्गुणवन्तो भवन्ति, वर्धन्ते च, दुष्टसङ्गादिभिर्दोषवन्तः भवन्ति, हीयन्ते चेति भावः।।१३।।

एतादृशाः स्वतन्त्रास्ते सिन्धवः परीकीर्तिताः।

पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः।।१४।।

जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः।

अष्टादशं भावम् आहुः **एतादृशा** इति। अव्यवधानेनोक्ता भावाः स्वतन्त्राः निरुपाधिकाश्चेत्तदा ते सिन्धवः स्वतःसमुद्रगामिन्यो महानद्यस्तज्जलतुल्याः परिकीर्तिता इति अर्थः। सिन्धुषु नदा अपि गृह्यन्ते। यथा महानदीजलप्रविष्टाः समुद्रं प्रविशन्ति, तथैतद्भावानुसारिणोपि दयासमुद्रं भगवन्तं प्रविशन्ति, महानदीजलवदेते भावाः शुद्ध्यादिहेतवोपि भवन्ति इति भावः। एकोनविंशं भावम् आहुः **पूर्णा भगवदीया इति**। ये भगवदीयाः भक्तया सेवया पूर्णा ''भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वाथाः'' येषामात्मादिकं भगवदर्थमपेक्षितं नत्वात्माद्यर्थे भगवान् सेव्यस्ते समुद्राः रत्नाकरतुल्याः प्रकीर्तितास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति अर्थः। भगवदीयशब्दस्तु नामधेयस्य विकल्पेन वृद्धत्वाच्छेषार्थे छप्राप्तौ ''बहुलं छन्दसि'' इति छसो विधानात् सिद्धः पुराणप्रसिद्धोपि, वाचस्तत्यादिवल्लोके ज्ञेयः। तान् प्रसिद्धान् गणयन्ति **शेषव्यासाग्निमारुता** इति। जडनारदमैत्राद्या इति। शेषो भगवद्गुणपरः शय्यादिभावेन भगवन्तं सेवते विभूतिरूपश्च। ''अनन्तश्चास्मि नागनाम्'' इति वाक्यात्। व्यासः कलावतारः सदा भगवद्धर्मनिरूपणपरो यस्य पूर्णभगवद्धर्मनिरूपणेनात्मप्रसादः। अग्निर्भगवदास्यरूपाः स्वयमेव येषां सर्वांशे सर्वस्वरूपः कृष्ण एव। मारुतो हनुमान् श्रीरघुनाथतद्गुणतत्परः। जडो जडभरतो योन्तःपूर्णभावाद्बहिर्जड इव प्रतीयते। नारदः सदा पुरुषोत्तमगुणगानैकतानः। मैत्रो

मैत्रेयः पराशरशिष्यो भगवद्धर्मवक्ता। आद्यपदादुद्धवादयः। समुद्रदृष्टान्तेन यथा चन्द्रदर्शनादब्दिरुत्तुङ्गतरलिततरङ्गो भवति, तथा भगवन्मुखचन्द्रदर्शनादेतेपि प्रवर्धमानभावा भवन्ति इति भावः। अयमेव भावः कपिलदेवैरुक्तः ''सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः। स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत'' इति।।१४ १/२।।

पूर्णाभावान् स्वरूपज्ञानभेदेन विलक्षणान्निरूपयन्ति लोकवेदगुणैरिति।

लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान्।।१५।।

वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः।

एके लोकमिश्रभावेन। एके वेदमिश्रभावेन। एके गुणैर्मिश्रभावेन हरिगुणान् वर्णयन्ति। ते क्रमेणोच्यन्ते। रामकृष्णादयो मनुष्या एव, परं बलादिनाधिका इति ज्ञात्वैके हरेगुर्णान् वर्णयन्ति। ते क्षारसमुद्रतुल्यास्तेषां भावस्तु तज्जलतुल्य इति अर्थः। यथा क्षारजलं न तृषादिनिवर्तकं न वा तृप्तिसुखकारि तथैतेषां भावोपि इति भावः। एके ''तूद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना'' इत्यादिना वेदे भूम्युद्धारादेः कृष्णकर्तृकत्वेन निरूपणात् जगत्कर्तैव विविधशरीरेषु आविश्य कार्यं कृत्वा तानि त्यजति इति ज्ञात्वा हरेर्गुणान् वर्णयन्ति। ते दधिमण्डोदतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति अर्थः। यथा दधिमण्डस्यासारत्वान्न पुष्टिहेतुत्वम्। तथैतेषां भावस्यापि इति भावः मायागुणैर्विना भगवतः कर्तृत्वाभावात्तद्गुणैरेव भगवान् सर्वं करोति इति ज्ञात्वा हरेर्गुणान् ये वर्णयन्ति ते सुरोदतुल्यास्तेषां भावः सुरातुल्य इति अर्थः। यथा सुरायाः स्वरूपविस्मारकत्वं दोषजनकत्वं तथैतद्भावस्यापि इति भावः। भगवान् सर्वेश्वरः सर्वं कर्तुं समर्थ इति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान् वर्णयन्ति ते क्षीरोदतुल्यास्तेषां भावः क्षीरतुल्य इति अर्थः। यथा क्षीरं स्वादु मधुरं पुष्टिजनकं तथायं भावोपि इति भावः। भगवान् महावीर्यः स्वभक्तानपि वीर्यवतः करोति इति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते घृतोदतुल्यास्तेषां भावो घृततुल्य इति अर्थः। यथा घृतं वीर्यहेतुस्तथायं भावोपि इति भावः। ''तं यथा यथोपासत'' इति श्रुतेः ''भगवान् लक्ष्मीकलत्रः सेवितो भुक्तिं मुक्तिं च यच्छति'' इति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते त्विक्षुरसोदतुल्यास्तेषां भाव इक्षुरसतुल्य इति अर्थः। यथेक्षुरसो मधुरोन्तस्तापनिवर्तकस्तथायं भावोपि इति भावः। ''यशःस्वानुद्धरेत् कृष्णो यादृशांस्तादृशानपि। सर्वथा शरणं यातानतः सेव्यः स एव ही'ति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते शुद्धोदतुल्यास्तेषां भावः शुद्धोदकतुल्य इति अर्थः। यथा शुद्धोदकं तापनिवृत्तिनैर्मल्यतृप्त्यादिहेतुस्तथायं भावोपि इति। भगवान् चिद्रूपो ज्ञानपूर्णो ज्ञानगम्यः सर्वसमो मोक्षार्थं सेव्य इति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते दधिमण्डोदतुल्यास्तेषां भावो दधिमण्डतुल्य इति अर्थः। भगवान् वैराग्यपूर्णो न किञ्चिदपेक्षते गृह्णाति वा सर्वैः पावित्र्यार्थं विहितत्वात्सर्वं समर्प्यते स्तूयते चेति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते क्षारोदतुल्यास्तेषां भावः क्षारजलतुल्यो, भगवद्वैराग्यस्य भिन्नरूपत्वादिति भावः। केवलसमुद्रदृष्टान्ते क्षारोदः शुद्धोदो वा ज्ञेयः।।१५ १/२।।

पूर्णभगवदीयेष्वत्युत्तमान्निरूपयन्ति गुणातीततया इति।

गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिणः।।१६।।

सर्वानेव गुणान्विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः।

तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम्।।१७।।

तादृशानां क्वचिद्वाक्यं दूतानामिव वर्णितम्।

अजामिलाकर्णनवद्बिन्दुपानं प्रकीर्तितम्।।१८।।

रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा।

तदा लेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम्।।१९।।

ये भगवदीयाः ''तमु स्तोतारः'' 'यस्मात्क्षरमतीतोहम्' ''मन्निष्ठे निर्गुणं स्मृतम्'' ''लोकवत्तु लीला कैवल्यम्'' इत्यादि श्रुतिस्मृतिपुराणन्यायैर्भगवन्नाम रूपधर्माणां गुणातीतत्वं निश्चित्य भगवन्नाम सच्चिदानन्दात्मकं भगवान् क्षराक्षरातीतः पुरुषोत्तमो भगवन्निष्ठं सर्वं निर्गुणं भगवतो लोकवदपि या लीला सैव कैवल्यं मोक्षः फलरूपा गुणातीता स्मरणादिनान्येषां मोक्षसाधिका चेत्येवं निरूपणेन विष्णोः पुरुषोत्तमस्य सर्वानेव गुणान्नवनीतादिचौर्यगोचारणवेणुवादन गोवर्धनोद्धरणादीनपि शुद्धान्गुणातीतत्वेन मायासम्बन्ध रहितान्नित्यान्सच्चिदानन्दरूपवतो वर्णयन्ति तेऽमृतोदाः सुधासमुद्रतुल्याः समाख्याताः कथितास्तेषां भावः सुधातुल्य इति अर्थः। ते भगवच्चौर्यादिप्रयोजनज्ञातारो, यतो विचक्षणाः, ततस्तद्वाक्यानां तेषां वचनामृतस्य पानमन्तर्निवेशनं तत उपदेशग्रहणं सादरश्रवणं च सुदुर्लभं सुतरां दुःप्रापम्। अत एव नामस्वरूपज्ञानार्थमेतादृशानामुपदेष्टृणामुपसत्तिः कार्येत्याशयेनाह श्रुतिः ''महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे'' इति। ते त्वत्सम्बन्धिनं सुमतिं निर्दोषपूर्णगुणत्वेन भगवन्तं जानन्तं भगवद्भक्तम् इति अर्थः। अत एव तत्त्वसागरेप्युक्तं ''दुर्लभे सद्गुरूणां तु स्यात्तत्सङ्ग उपस्थिते। तदनुज्ञा यदा लब्धा स दीक्षावसरो महान् इति। अत एव

नित्यानन्दमयपुरुषोत्तमत्वेन भगवत्स्वरूपाज्ञाने ज्ञानकर्मादिकं व्यर्थमित्याह भगवा ''नव जानन्ति मां मूढा'' इत्यारभ्य ''प्रकृतिं मोहिनीं श्रिता'' इत्यन्तेन। नित्यानन्दमयपुरुषोत्तत्वेन भगवज्ज्ञाने सर्ववित्त्वं सर्वभावेन स्वभजनं चोक्तं भगवता ''यो मामेवमसंमूढ'' इति श्लोकेन। तद्वाचो महिमानम् आहुः तादृशानाम् इति। पूर्णभगवदीयानां वाक्यं क्वचित् यत्र प्रसन्नतया स्वेच्छया वदन्ति, नत्वनुरोधेन प्रेरणया वा, तत्र दूतानां सन्देशहराणामिव वर्णितं ज्ञेयं, यथा दूतमुखेन राजा वदति, तथा तन्मुखेन भगवानपि दूतानामिव प्रभूत्कर्षवर्णने तेषां न शङ्का चेति भावः। अतो भगवत्कृपया फले भाविन्येतादृशानां समागमो भवति। अत एव श्रीभागवते ''भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युतसत्समागमः। सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः। महद्विचलनं नृणा''मित्यादि। अत एवैतद्वचनामृतबिन्दुपानमेभ्य उपदेशग्रहणं श्लोकमात्रश्रवणं शिक्षा वा तद्वत् प्रकीर्तितम्। यथाजामिलस्य तदन्तरं न पुनर्नरकसम्बन्धो भगवद्धर्माचरणेनोत्कृष्टफल प्राप्तिस्तथैतद्विन्दुपानकर्तुरपि इति भावः। यद्वा। अजामिलस्याकर्णनं यस्मिन् तदजामिलोपाख्यानं तेन तथा भगवद्रुपनामादिमाहात्म्यं ज्ञातं भवति, तथैतद्विन्दुपानेनापि भवति इति भावः। अत एव श्रीभागवते 'किरातहूणान्ध्रे'ति 'यत्पादपङ्कजे'ति एतद्विन्दोः पानापेक्षया रसास्वादोधिक इति तत्परिचायकम् आहुः **रागाज्ञानादिभावानाम् इति।** रागः स्नेहो गृहादिषु, अज्ञानं भगवत्स्वरूपस्य, आदिपदात् गृहाद्यासक्तिः, एतान्येव भावाः। यद्वा। अज्ञानमविद्या आदिर्येषां भावानां शोकमोहादीनां तेषां यदा सर्वथा नाशनं, तद्वासनापि न तिष्ठति, तदा लेहनं रसास्वादनं पूर्णमुक्तम्। यद्वा, रागाज्ञानदिभावानां यदा सर्वथा नाशनमस्फूर्तिस्तदेति। इदमेव विन्दोः पानं लेहनं रसास्वादनमुक्तम्। श्रवणादौ व्यसने सम्पन्ने तदेवास्वाद्यमानममृतं भवति इति अर्थः। तत्स्वानन्दोद्गमकारणं स्वस्य यो भगवदानन्दस्योद्गमस्तस्य नित्यत्वात् तत्र कारणम्। ''रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति इति श्रुतेः। स्वस्य तिरोहितानन्दस्य य उद्गमः प्राकट्यं ज्ञानफलं तत्कारणतुल्यं यत्रेति च। ब्रह्मभावानन्तरं भक्तिप्राप्तेः। भगवति क्रमेण प्रेमासक्तिव्यसनैः प्रापञ्चिकास्फूर्तौ न किञ्चिदवशिष्यते। अत एवोक्तमेकादशे ''भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते। मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि। एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्'' इत्यादिना च। तथोक्तं भक्तिवर्धिन्यां श्रीवल्लभाचार्यचरणैः ''स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः। यदा स्याद्व्ययसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि''।।१६-१९।।

उद्धृतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्तथा।

उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः।।२०।।

विंशं भावम् आहुः उद्धृतोदकवत् इति। अव्यवधानेनोक्तामृतोदतुल्यातिरिक्तानां वाक्यानि तथा तेषामेव सर्वे भावाश्च भाववतामप्रत्यक्षदशायामादरेण गृहीतानि वाक्यानि भावाश्चोद्धृतोदकवदुपकारं कुर्वन्ति। यथा कथञ्चिद्गृहीतानि पतितोदकवज्जलाशयात् पृथक् स्थितोदकवत्। अथवा, प्रासादादितः पतितोदकवदुपकारं कुर्वन्ति। अथवा। भाववदप्रत्यक्षदशायां सर्वे भावा अमृतोदतुल्यातिरिक्तानामुद्धृतोदकवत्फलं साधयन्ति। वाक्यानि च पतितोदकवत् फलं साधयन्ति इति अर्थः। ततस्तेभ्यो भावेभ्यो वाक्येभ्यश्च फलमपि तथा तदनुरूपमेवेत्यर्थः। यथोद्धृतजलानि स्वप्रभवगुणसदृशानेव गुणान् विदधते, न तु तानेव, तथा तत्तद्भावा अपि तत्तद्गुणसदृशान् गुणान् विदधते। सुधा तु सदैकरूपमेव गुणं विधत्त इति भावः।।२०।।

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि।

रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः।।२१।।

उपसंहरन्ति **इतीति।** इतीति समाप्तौ। अनेन प्रकारेण वा। जीव आत्मा इन्द्रियाणि च तेषु गताः प्राप्ताः। अत एव भुवि आधारे नानाभावं अनेकविधं सात्त्विकादिभावं गताः प्राप्ताः, नानात्वं वा प्राप्ताः, एतादृशा विष्णोर्भगवतो गुणास्तेषां भावानां भगवदीयत्वात् तद्रुपत्वाद्वा। रूपतः स्वरूपतः ईदशम् इति यत् स्वरूपम् इति। फलत इतीदृशमेतत्फलम् इति निरूपिता विवेचिता इति अर्थः।।२१।।

जलानामिव भावानां भेदा यत्र निरूपिताः।जलभेद इति ख्यातो ग्रन्थोयं भावबोधकः।।१।।

डठञ्ट्ठिइजएचझङ्घ्रत्रअचजजछठठं कत्यचणअचयजण मथदच चणट्टय।

तचतचझङ्घ्रछ्मज च गथण न् छ्तिृत्रयचन् टठकच कृतजयं जइभजदनचट्टनः।।२।।

श्रीगोविन्दसुतप्रोक्ता टीका रागवतां हरौ।भावपूर्णा मुदे भूयात्सुन्दरीवाल्पभाषिणी।।३।।

मृषोद्यमनवद्यं वा बालस्येव कृपालवः।क्षमन्तां विट्ठलाधीशचरणाः प्रभवो मम।।४।।

इति श्रीविट्ठलेश्वरचरणैकतानश्रीकल्याणरायविरचिता

जलभेदटीका सम्पूर्णा।

श्रीकृष्णाय नमः।

जलभेदः।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवृतिसमेतः।

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान् भगवन्तं च तद्गुणान्।

गुणस्वभावबोधार्था या वाचस्ता उपास्महे।।१।।

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः भक्तिवर्धिन्यां त्यागिनां गृहस्थानां च भक्तिवृद्ध्यर्थं श्रवणरूपं कीर्तनरूपं च साधनमुक्त्वा तदर्थमर्थबलात्कीर्तयितुः श्रोतुश्च प्राप्ते सङ्गे स किं यस्य कस्यापि कर्तव्य उत भगवदीयत्वेन परीक्षितस्येत्याकाङ्क्षायां यद्येकादशस्कन्धे ''स्वमूर्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणां, गीर्भिस्ताः स्मरतां चित्तं पदैस्तानीक्षतां क्रियाः, आच्छिद्य कीर्तिं सुश्लोकां वितत्य ह्यञ्जसानु कौ, तमोनया तरिष्यन्तीत्यगात्स्वं पदमीश्वर'' इति शुकवाक्ये भगवत्कीर्तेः संसारात्मकतमस्तारकत्वेन कथनात्तस्याश्च गुणजन्यत्वात्तेषामपि श्रूयमाणानां कीर्त्यमानानां क्वचित् दृश्यमाणानां च संसारतारकत्वमेवोचितं, भगवता तदर्थमेवानवतारदशायां कीर्तिद्वारा प्रकटनात्, ''साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा, वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदु''रिति षष्ठस्कन्धे शुकवाक्यादजामिलस्य पुत्रोपचारितनामकीर्तनमात्रेणैव संसारत उद्धारच्च, यस्य कस्यापि सङ्गः कर्तव्य इत्यङ्गीक्रियते, तदा ''भिक्षाशया ये गृह्णन्ति मम नामानि चार्जुन, अमुख्यास्ते जनाः पार्थ दूरतः परिवर्जयेत्'' इत्यादिपुराणवाक्येषु निन्दास्मरणस्य, सप्तमस्कन्धे समाप्तौ, ''अहं पुराभवं कश्चिद्गन्धर्व उपबर्हण'' इत्यादिभिर्नारदेन स्वपूर्वजन्मवृत्तान्तकथने गायतो गतस्य मत्तत्वस्त्रीपरिवृतत्वपुरुलम्पटत्वैः स्वस्य विश्वसृग्दत्तशापकथनस्य च कथमविरोधः। किञ्च, प्रथमस्कन्धे नारदेन स्वस्य शूद्रजन्मनि योगिसङ्गतदुक्तभगवत्कथाश्रवणाभ्यां स्वस्य भगवद्रत्यादिकथनं एकादशस्कन्धे च भगवता कथाश्रवणाद्यर्थं सत्सङ्गस्यैव कथनं च कथं सङ्गच्छते, तथा गुणकर्मानुरूपभगवन्नामोच्चारयितृणां भिक्षाशामात्रेण कथं निन्द्यत्वं, गुणगातुरुपबर्हणस्य च कथं विश्वसृग्भ्यः शापः। किञ्चैवं भावभेदेन नामाद्युच्चारयितृणां गुणगातृप्रभृतीनां च स्वरूपभेदे फलभेदे चावगम्यमाने कथं द्विविधवाक्यानामविरोध इति सन्देहे स्वीयानां जाते तद्वारणार्थं ''तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् स'' इति न्यायेन भगवानाकाशादिभूतेष्वाधारेषु तत्तद्रूपेण स्थित्वा तत्तकार्यं करोति, तथा भगवद्गुणा अपि भगवद्रूपत्वाद्भौतिकेषु तत्तद्भावरूपेष्वाधारेषु तत्तद्रूपेण स्थित्वा तत्तद्भावानुसार्येव कार्यं कुर्वन्ति इति भगवद्गुणानामाधारवशेन फलतः स्वरूपतश्च

नानाप्रकारतां वदिष्यन्तस्तदा धारनिरूपणं प्रतिजानते **नमस्कृत्य** इति।

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान्।

भावान्विंशतिधा भिन्नान्सर्वसन्देहवारकान्।।१।।

हरिं ''हराम्यघं यत्स्मर्तृणाम्''इति[१] भारतवाक्यात्स्मरतामघहर्तारं भगवन्तं **नमस्कृत्य, तद्गुणानां** तच्छब्दस्य सन्निहितपरामर्षित्वात्तस्य हरेः गुणानामुत्कर्षाधायकानाम् धर्माणां **विभेदकान्** विशब्दो नानार्थः नानाभेदजनकान् विंशतिप्रकारेण **भिन्नान्, सर्वसन्देवारकान्** गुणस्वरूपफलविषयकाः सर्वे पूर्वोक्तप्रकारका अन्ये च ये तादृशाः सन्देहास्तेषां निवर्तकान् भावान् जीवानां मनोविकारान् वक्ष्ये कथयिष्यामि। अत्र सर्वसन्देहवारकानितिविशेषणेन सन्देहनिवृत्तिरूपफलसूचनात्तदर्थं गुणाधारभूतान् भावान् वक्ष्यामि इति अर्थः। न चात्र गुणेषु तदभिध्यानन्यायाङ्गीकारे किं मानम् इति शङ्क्यम्, उपसंहारवाक्ये, ''इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवी''त्यत्र जीवेन्द्रियगतानां नानाभावप्राप्तिकथनेन तदभिध्यानसूत्रोक्तन्यास्यैव सूचितत्वादिति।।१।।

नन्वाधाराणां जीवेन्द्रियधर्मत्वेनान्त्यात्कथं विंशतिधाभिन्नत्वमेव प्रतिज्ञायत इति आकाङ्क्षायां बोधसौकर्यार्थं श्रौतवासनया दृष्टान्तेन तथा भिन्नत्वं बोधयन्त्यर्धेन **गुणभेदा** इत्यादि।

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः।।११/२।।

तु शङ्कानिरासे, उक्तसङ्ख्याविषयिणी शङ्का न कार्या, हि यतो हेतोः **गुणभेदास्तावन्तः यावन्तः** यत्सङ्ख्याकाः जले मताः श्रुतिसंमताः। तथा चाधारान्त्येपि यथा जलस्य विंशतिभेदास्तथा गुणानामपि। जलं हि शैत्युगुणकं स्वच्छं अव्यक्तमधुरसं सर्वशोधक स्वसम्बन्धेन द्रव्यान्तरस्य भूयस्त्वापादकमाप्यायकं च स्वभावतः सदपि यादृगाधारे पतति तादृक्स्वभावं लोके भवति, गुणदोषौ च जनयति, तथा गुणा अपि स्वभावत एकविधा आनन्दरूपाः ब्रह्मणः सकाशात्प्रकाशाश्रयन्यायेन भिन्ना-भिन्ना अप्यनेकस्वभाववत्तामनेकगुणदोषवत्तां चापद्यन्त इति तद्दृष्टान्तेन तथोच्यते। श्रौतदृष्टान्तस्यैवं बोधार्थम्

१. हराम्यघं यत्स्मर्तृणां हविर्भागं क्रतुष्वहं। वर्णश्च मे हरिच्चेष्टस्तस्मादहं हरिः स्मृतः।

अङ्गीकारात् इति अर्थः। तत्र तैत्तरीयसंहितायां सप्तमकाण्डे ''कूप्याभ्यः स्वाहा, कूल्याभ्यः स्वाहा, विकर्य्याभ्यः स्वाहा, अवद्याभ्यः स्वाहा, खन्याभ्यः स्वाहा, ह्रद्याभ्यः स्वाहा, सूद्याभ्यः स्वाहा, सरस्याभ्यः स्वाहा, वैशन्तीभ्यः स्वाहा, पल्वल्याभ्यः स्वाहा, वर्ष्याभ्यः स्वाहा, अवर्ष्याभ्यः स्वाहा, ह्रादुनीभ्यः स्वाहा, पृश्व्याभ्यः स्वाहा, स्यन्दमानाभ्यः स्वाहा, स्थावराभ्यः स्वाहा, नादेयीभ्यः स्वाहा, सैन्धवीभ्यः स्वाहा, समुद्रियाभ्यः स्वाहा, सर्वाभ्यः स्वाहेति मन्त्रेषु विंशतिविधा आप अपां होमे उक्ताः।।१ १/२।।

तत्र प्रथमं कूप्या उक्ता इतीहापि कूपसमानं गुणाधारं प्रथममेकेनाहुः **गायका इत्यादि।**

गायकाः कूपसंकाशा गन्धर्वा इति विश्रुताः।।२।।

कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि संमताः।

गायका गानकर्तारः **कूपसंकाशाः** कूपोपमाः, कूपाश्च केचिदुत्तमाः यथा स्कान्दे पुरुषोत्तममाहात्म्ये, ''न्यग्रोधादुत्तरे कूपः सर्वतीर्थमयोस्ति वै'' यथा च द्वारकायामवन्त्यां च दामोदरकूपः केचिच्च कदाचिदुत्तमाः, यथा व्रजे गोपकूपः, ''सोमवत्याममायमेव सर्वतीर्थमयो नान्यदा'', एवं साधारणा अप्रयोजकाश्च ज्ञातव्याः, तथा गायका अपि, तेपि न साधारणाः किन्तु **गन्धर्वा** इति पुराणे वेदे च श्रुताः विशेषेण प्रसिद्धाः। तु पुनः यावन्तः कूपभेदास्तावन्तस्ते गन्धर्वा अपि संमताः सम्यग्विचारिताः। तथा च कूपे भवाः कूप्यास्ता यथा कूपरूपाधारभेदेन रूपतः फलतश्च नानाविधा भवन्ति, एवं गन्धर्वैर्गीयमाना गुणा अपि गन्धर्वस्य भगवद्भक्तत्वे तदभक्तत्वे साधारणत्वे लम्पटत्वादिदोषविशिष्टत्वे च तद्भावसमानाकारा भवन्तस्तदनुरूपमेव फलं जनयन्ति। एतेनोपबर्हणस्य शापोऽन्येषां गन्धर्वाणां शापाभावः ''भिक्षाशया ये गृह्णन्ति''इतिवाक्यं च समर्थितं ज्ञेयम्। तेन ''गुणगाने सुखावाप्ति''रित्यादिना निरोधलक्षणग्रन्थे गुणागातॄणां स्वरूपफलोत्कर्षौ यावुक्तौ तावपि ''निवृत्ततर्षैरुपगीयमानात्'' इति श्लोकक्तरीतिकेष्वेव पर्यवस्यत इति बोधितम्। इदं ''पूर्णा भगवदीया य'' इति अत्र स्फुटिष्यति।।२ १/२।।

कूल्याभ्यः स्वाहेति श्रुतिमनुसृत्य द्वितीयं भावम् आहुः **कुल्या** इत्यादि।

कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारम्पर्ययुता भुवि।।३।।

श्रुतौ कूल्या इति दीर्घः छान्दसो वर्णविकृतिरूपः। **पौराणिकाः कुल्याः प्रोक्ताः** ''कुल्या स्यात् कृत्रिमा सरित्''इति कोशात् महतो जलाशयात् अन्यत्र जलानयनार्थं या कृत्रिमा नदी क्रियते सा कुल्या। पौराणिकाः पुराणवाचयितारस्ताः

प्रोक्ताः। अत्रोपमावाचकपदाभावाद्रूपकं ज्ञेयम्। ''उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमिष्यते'' इति काव्यादर्शे लक्षणात्तत्रापीदमाधिक्यन्यूनत्वयोरनुक्तत्वादनुभयोक्तिरूपकं ज्ञेयम्। केषाञ्चिदलङ्काराणां किञ्चित्प्रयोजनार्थं शास्त्रेङ्गीकारस्यानुमानिकसूत्रे तद्विषयश्रुतौ च दर्शनात् इति। एवमग्रेपि बोध्यम्। पौराणिकानां कुल्यातौल्ये हेतुगर्भं विशेषणम् आहुः पारम्पर्ययुता भुवि इति। तथा च भूमिष्ठत्वात्परम्परया मूलसम्बन्धाच्च ते कुल्यातुल्या इति अर्थः। तेन यादृश्य आपः कुल्यायां भवन्ति तादृशस्तेषां भावः। ता यथा नद्यादिरहिते देशे कृत्रिमोपायेन नीताः प्रवहन्त्यः पानस्नानाचमनादिरूपपरोपकाराय भवन्ति, तथा तेषां भावोपि। पाद्मे माघमाहात्म्ये वैश्यं प्रति देवदूतवाक्यजाते ''विचारयन्ति ये शास्त्रं वेदाभ्यासरताश्च ये। पुराणसंहितां ये च श्रावयन्ति पठन्ति च। व्याकुर्वन्ति स्मृतिं ये च ये धर्मप्रतिबोधकाः। वेदान्तेषु निविष्टा ये तैरियंजगती धृता। तेषामभ्यासमाहात्म्यैः सर्वे ते हतकिल्विषाः। गच्छन्ति ब्रह्मणो लोकं यत्र मोहो न विद्यते। ज्ञानमज्ञाय यो दद्योद्वेदशास्त्रसमुद्भवं। अपि देवास्तमर्चन्ति भवबन्धविदारकम्'' इति पौराणिकानामुत्कृष्टत्वकथनात्। अत्र भुवि इतिकथनात् पूर्वश्लोकोक्ताः स्वर्गस्था इति बोधितम्। अन्यथा तद्वैयर्थ्यापातात् इति।।३।।

अतः परं ''विकर्याभ्यः स्वाहे''ति श्रुतिमनुसृत्य तृतीयं भावम् आहुः क्षेत्रेत्यादि।।

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः।

च पुनः ते पौराणिका अपिशब्दाद्गन्धर्वाः क्षेत्रप्रविष्टाः, क्षेत्रशब्देन यथा केदार उच्यते, तथा ''क्षेत्रं पत्नीशरीरयो''रिति कोशात् ''बलेः क्षेत्रे महीभुज'' इति ''इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयत'' इत्यादिवाक्याच्च शरीरपत्न्यावप्युच्येते। एवं सति कुत्रिमजलमार्गे कृते तद्वारा केदारप्रविष्टाः कुल्याया आपो यथा उप्तस्य बीजस्य वृक्षस्य वा यः संसारः अभिवृद्धिः तदुत्पत्तिहेतवो भवन्ति, तथा पौराणिका गन्धर्वाश्च स्वदेहे पत्न्यां वाभिनिविष्टाः संसारस्याहन्ताममतात्मकस्योत्पत्तिहेतवो भवन्ति। अतस्तेषां भावो विकर्यातुल्यः। कृ विक्षेपे, सृदोरप्, विशेषेण विविधं वा कीर्यते विक्षिप्यते असौ विकरः, केदारे कुल्याजलानयनार्थं कृतो मार्गस्तत्र भवाः विकर्य्याः, ता यथा क्षेत्रिभिः स्वान्नसिद्ध्यर्थं यतस्ततो नीयन्ते तथा तद्भावा अपि इति। तादृशा गन्धर्वपौराणिकाः विकरतुल्या इति अर्थः। एवं च द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां कामनाकरणमुपक्रम्य ''वसुकामो वसून् देवा''नित्यस्य द्वितीयव्याख्याने यदुक्तम्। ''एवं धनस्यापि, भगवद्भक्तेष्वानत्यर्थं श्रवणादिसिद्ध्यर्थं उपदेशनार्थं वा देयमपेक्ष्यते, साधनरूपश्रवणादिकं तादृशैरेव भवति इति। तत्रापि

धनदातुः सत्फलं प्रतिगृहीतुस्तु संसारोत्पत्तिः। 'भिक्षाशये'ति वाक्यात्। यदि तु तत्त्वविचारार्थमुदरभरणोपयोग्यन्नमात्रं गृह्णाति, तदा तु तीर्थपर्यटितृवन्न दोष इति बोध्यम्। एतदपि तदा यदा पौराणिकानां पारम्पर्ययुतत्वं भवति। तदभावे तु वक्तुश्रोत्ररुभयोरपि संसार एव। स्वबुद्ध्यान्यथाव्याख्यानान्यथाबोधयोः सम्भवाच्चेति ज्ञेयम्। ननु ब्रह्मवैवर्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे ''कल्याणसूक्तसामानि हरेर्नामैकमङ्गलम्। कुर्वन्ति विक्रयं ये वै तेषां भारेण पीडिते''ति ब्रह्माणं प्रति पृथिवीवाक्यात्, ''मन्नामविक्रयी विप्रो न हि मुक्तो भवेत् ध्रुवं। मृत्युकाले च मन्नामस्मृतिमात्रं न विद्यते'' इति श्रीनन्दं प्रति भगवद्वाक्याच्च, नामविक्रयस्य दोषत्वे शिष्येभ्यो भगवन्नामोपदेशस्यापि दोषत्वापत्तिः। तत्र शिष्योपढौकितग्रहणेन नामविक्रयसम्भात् इति चेत्। सत्यम्। तथापि गुरुत्वस्य साहजिकब्राह्मणवृत्तित्वेनात्याज्यत्वात्, ''सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्। सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता'' इति भगवद्वाक्यात्। श्रुतावपि षडाचार्यब्राह्मणारम्भे जनकसमीपे याज्ञवल्क्य आगते जनकेन, 'याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीः पशूनिच्छन्न'' ''एवं ता''निति गोर्थं सूक्ष्मवस्तुनिर्णायकप्रश्नान्मत्तः कारयितुं वागतोसी''ति पृष्ठे याज्ञल्क्येन ''उभयमेव सम्रा''डित्युक्त्वा, राजप्रश्ने अब्रवी''न्म उदङ्क शौल्वायन'' इत्यादिना प्राणब्रह्मविद्योपदिष्टा, ततो जनकेन हस्त्यृषभसहस्रं ददामीत्युक्ते याज्ञवल्क्येन ''पिता मेमन्यत नाननुशिष्य हरेते''त्युक्त्वा पूर्णा ब्रह्मविद्योपदिष्टा, ततो जनकेन विदेहाः स्वात्मा च याज्ञवल्क्याय समर्पितः यदा याज्ञवल्क्यस्तदङ्गीकृतवान् इति श्रावितत्वेन ब्रह्मविद्योपदेशोत्तरं शिष्योपढौकितग्रहणस्य प्राप्ततया तन्नयायस्यात्रापि वक्तुं शक्यत्वाच्च। किञ्च, गीतायामेव सहजकर्मात्यागमुक्त्वा, ''असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः। नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्नयासेनाधिगच्छति'' इति अत्र असक्तबुद्धित्वादिभिस्तत्कर्मसन्न्यासेन नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्तिं कथयता भगवता तद्दोषपरिहारोपायस्योक्तत्वाच्च तथा करणे दोषाभावात् इति। एवच्च यत्प्रभुचरणैरुक्तं ''विचार्यैव सदा देयं कृष्णनाम विशेषतः। अविचारितदानेन स्वयं दाता विनश्यति इति। तत्रापि स्वस्य शिष्यस्य चोद्धारं विचार्यैव देयम्। लोभादविचारितदाने तु नामविक्रयापत्त्या दाता स्वयमपराधभाग्भवति इति अर्थो ज्ञेयः। प्रकृतमनुसरामः। तेन गन्धर्वाणां पौराणिकानां च सङ्गस्तत्स्वरूपं विचार्य कार्य इति **बोधितम्**।।३ १/२।।

अतः परं ''अवद्याभ्यः स्वाहे''ति श्रुतिमनुसृत्य चतुर्थं भावम् आहुः **वेश्यादि** इत्यादि।

वेश्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिताः।।४।।

आदिपदेन स्वैरिणीसङ्ग्रहः। ईदशा गायकाः गर्तसंज्ञिकाः। गर्तलक्षणं तु कात्यायनस्मृतौ ''धनुःसहस्राण्यष्टौ तु तोयं यासां न विद्यते। न ता नदीशब्दावहा गर्तास्ते। परिकीर्तिताः'' इति। आपः नदीसम्बन्धिन्योपि नदीशब्दवहा न, किन्तु ते जलाशया गर्ताः शास्त्रेषु सर्वत्र कीर्तिता इति अर्थः। तथा च ''नद्या यच्च परित्यक्तम्'' इत्यादिवाक्यान्तरात् तज्जलं बहुलमपि न शिष्टानां स्नानपानादियोग्यम्। तथा तादृशां भावोपि इति अर्थः। यद्वा, ''प्रह्लादो ह वै कायाधवः विरोचनंस्वपुत्रमुदास्यत्, स प्रदरोऽभवत्, तस्मात्प्रदस्य नाचामेत्'' इति श्रुतावापस्तम्बस्मृतौ च न वर्षधारास्वाचामेत्तथा च प्रदरोदक इति तज्जलाचमननिषेधात्। तत्र ''प्रदरो गर्त'' इति सायणीयादौ व्याख्यानात्तेषामापोऽवद्याः, न उद्यन्त इत्यवद्याः पूर्वोक्तश्रुतिस्मृतिभ्यां तदाधारनिन्दातः ता अपि निन्द्या इति अर्थः। तादृशां भावस्य दुष्टत्वात्तद्गीता गुणा न समीचीनफलदाः गातॄणां श्रोतॄणां चेति तादृशां सङ्गो न कर्तव्य इति भावः।।४।।

अतः परं ''खन्याभ्यः स्वाहे''ति श्रुतिमनुसृत्य पञ्चं भावं वक्तुमन्यानपि ततो हीनान् आहुः **जलार्थम् इत्यादि**।

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः।

हस्तपादप्रक्षालनगण्डूषादिदुष्टजलस्य सर्वत्र प्रसाराभावार्थं ये गर्ताः कृतास्तादृशाः। तथा च तज्जलं न समीचां योग्यम्। जात्या नीचाः गानोपजीवनेनैव ये उदरंभरयस्ते यथा तथा तेषां भावोपि इति तद्गता गुणा अपि तादृशा इति तत्सङ्गो न कार्य इति भावः। श्रुतौ ''अवद्याभ्यः स्वाहे''त्यनन्तरं ''खन्याभ्यः स्वाहे''त्युक्तम्। अत्र खननेन निष्पन्ना आपः खन्या इति व्याख्यानम्। तथा सति तत्सङ्ग्रहार्थमत्रापि प्रकारान्तरेण पुनर्व्याख्येयम्। तुशब्देन तथा सूचनात्। तथा च नीचा गानोपजीविनः जलार्थमेव गर्ताः। तु पुनः नीचा गानोपजीविनः जलार्थमेव गर्ता इति। एतस्मिन् पक्षे चायमर्थः। जलार्थं जलनिष्पादनार्थं खननेन निष्पादिता ये गर्तास्ते जलार्थमेव गर्ताश्चोद्राणीति यावत्। नीचा गानोपजीविनस्तादृशाः तेषु नीचत्वं जातिदोषः, गानोपजीवित्वं च कर्मदोष इति। चोद्रजलं पुनः खननात्कलुषं निर्मलमपि संस्कारं विना नानाजातीयजनोच्छिष्टसंसर्गदोषाच्च यथा शिष्टायोग्यं, तथा तद्भावनिविष्टा गुणा अपि स्वरूपतः फलतश्च दुष्यन्ति इति तादृशामपि सङ्गो न कार्य इति बोधितम्। एवं पञ्चविधा भावा उक्ताः। एवमत्र गातृविषयकाः सन्देह निवारिताः।।४ १/२।।

अतः परं कीर्तयितृविषयकांस्तान् निवारयितुं ''ह्रद्याभ्य स्वाहे''ति श्रुतिमनुसृत्योत्तमं षष्ठं भावम् आहुः **ह्रदास्त्वित्यादि।**

ह्रदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः।।५।।

सन्देहवारकास्तत्र सूदा गंभीरमानसाः।

सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः।।६।।

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः।

कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतभक्तयः।।७।।

अत्र तुशब्दः प्रकरणं भिनत्ति। पण्डा शास्त्रजन्या बुद्धिः स्वाभीष्टार्थग्राहिका च तद्वन्तः पण्डिताः प्रकर्षेण पुराणादिषूक्ताः। शास्त्रदर्शित्वेपि विशेषम् आहुः। **भगवच्छास्त्रतत्परा इति।** भगवता प्रोक्तं शास्त्रं गीताश्रीभागवतपञ्चरात्रवाराहपुराणादि तन्निष्ठाः ये ते ह्रदाः। ''जलाशयो जलाधारस्तत्रागाधजलो ह्रद'' इति कोशात् महान् जलाशयो ह्रदः, परं नद्येकदेशभूतो नदीसंलग्नः। ''कालिन्द्यां कालीयस्यासीत् ह्रद'' इति ''शुष्यद्ध्रदाः कृशतटा बत सिन्धुपत्न्य'' इत्यादौ तादृशेष्वेव ह्रदपदप्रयोगात्। तथा च तेषां भावे निविष्टा भगवद्गुणा अपि ह्रद्यजलतुल्याः। तद्यथा सर्वकार्येषु स्वरूपतः प्रशस्तं फलतश्चोत्तमं, तथा तैर्विचार्यमाणास्तेभ्यः श्रूयमाणाश्च गुणाः स्वरूपतः फलतश्चोत्तमा इति अर्थः। अत्रापि ''विचारयन्ति ये शास्त्रं वेदाभ्यासरताश्च ये'' इति पूर्वोपन्यस्तमाघमाहात्म्योक्तं स्वरूपवाक्यं फलवाक्यं चानुसन्धेयम्। सूद्याभ्यः स्वाहेति श्रुतिमनुसृत्य तस्मादुत्कृष्टं सप्तमं भावम् आहुः **सन्देहेत्यादि।** तत्र तेषु भगवच्छास्त्रतत्परेषु ये अज्ञानां श्रोतॄणां भगवच्छास्त्रविषयकं सन्देहं वारयन्ति, ते **सूदाः,** सुष्ठु समीचीनं स्वादु सद्गुणं उदमुदकं येषां ते **सूदाः**। तत्र हेतुम् आहुः **गंभीरमानसा** इति। अगाधं दुरवगाहं ह्रदयं येषां तादृशाः। तथा च श्रोतुर्हृदयं बुद्ध्वा तदधिकारानुसारेण तद्धितं बोधयन्ति, न तु सर्वं शास्त्रार्थम् इति अर्थः। तेन यादृशं जलमुक्तं तादृशस्तेषां भावः स्वरूपतः फलतश्चोत्तम इति तादृशां सङ्गः कर्तव्य इति भावः। अत्रापि ''पूर्वोक्तज्ञानमज्ञाय यो दद्यात्'' इति वाक्यं ''गच्छन्ति ब्रह्मणो लोकम्'' इति तत्फलवाक्यं चानुसन्धेयम्। एवमत्र मर्यादामार्गीयं भावद्वयमुक्तम्। श्रीकल्याणरायास्तु ''सूदा इत्यनेन वाप्योदा उच्यन्त'' इति पक्षान्तरम् आहुः। तदा तस्मिन् पक्षे गंभीरत्वं निम्नत्वं सन्देहवारकत्वं च तत्र सोपानस्थानापन्नं ज्ञेयम्। तत्रैव श्रोतॄणां विशेषस्तत्सङ्गात् इति। अतः परं ''सरस्याभ्यः स्वाहे''ति श्रुत्यनुसारेण तत उत्कृष्टं पुष्टयनुसृतमष्टमं भावम् आहुः सर इत्यादि। भगवति प्रेम्णा युक्ताः

निवृत्तलौकिकरागाः, तथा पूर्वोक्तवत् बुधाः भगवच्छास्त्रतत्पराः श्रोतुः सन्देहवारकाः ये ते सरःकमलसम्पूर्णाः, सरसि यानि कमलानि तैः सम्पूर्णा सम्यग्भरिता या आपस्तादृशाः। न च श्रुतौ सरस्यापदेन सरोधिकरणकत्वमात्रलाभादत्र कमलसम्पूर्णत्वस्य कृत उक्तिरिति शङ्क्यम्। सरस्यापदस्य ''सारसं सरसीरूहम्'' इति कमलनामस्मारणेन तत्सम्बन्धार्थमेव तत्प्रयोगात्। अन्यथा ह्रद्यासूद्याभ्यां विशेषाभावात्तदनुल्लेखापत्तेरिति बोध्यम्। अत्र पूर्वं जलधाराणां दृष्टान्तत्वमुक्त्वात्र यदाप एव दृष्टान्तत्वेन सूचितास्तेन तेषां भावव्याप्तत्वं सूच्यते। तथा च यथा ता आपः सौगन्धभ्रमरझङ्कारप्रभृतिभिः सर्वेन्द्रियाह्लादिन्यस्तथा तेषां भावोपि श्रोतृषु ज्ञानभक्ति संक्रामयन् तेषां सर्वेन्द्रियाह्लादी भवति, फलतश्चोत्कृष्यत इति तद्गता गुणस्तेथेत्यर्थः। अत एवैकादशस्कन्धे संवादसमाप्तौ भगवतोक्तं ''य एतन्मम भक्तेषु सम्प्रदद्यात्सुपुष्कलं, तस्याहं ब्रह्मदायस्य ददाम्यात्मानमात्मने''ति। अतः परं ''वैशन्तीभ्यः स्वाहे''ति श्रुतिमनुसृत्य ततो न्यूनं नवमं भावम् आहुः **अल्पश्रुता** इत्यादि। अल्पं श्रुतमध्ययनं श्रवणं वा सत्पुरुषवाक्यसम्बन्धि येषां ते अल्पश्रुताः भगवद्विषयकप्रेमयुक्ताश्च। ते वेशन्ताः अल्पसरस्तुल्याः। ''वेशन्त पल्वलं चाल्पसरे'' इति कोशात्। ''विश प्रवेशने विशन्त्यस्मिन् भेकादय'' इति निरुक्तेश्च। अत्र चाल्पश्रुतप्रेमयुक्तपदयोः समभिव्याहाराद्भक्तावपि स्वल्पत्वं सूचयते। तेन ''वैशन्तीभ्यः स्वाहे''ति श्रुत्युक्ता या आपस्तत्तुल्यस्तेषां भाव इति बोधितम्। तथा च प्रेमवत्वेन पूर्वोक्तजातीयत्वेप्यल्पत्वाद्यथा तज्जलं महिषादिभिरवगाढं कलुषं भवति, तथा तद्भावोपि श्रुतप्रेम्णोरल्पत्वाद्विजातीयशास्त्रादिसंसर्गेण कलुषितो भवति इति, तत्सङ्गोऽप्रयोजक इवेत्यर्थः। अतः परं ''पल्वल्याभ्यः स्वाहे''ति श्रुत्यनुसृतं वेशन्तसजातीयं दशमं भावम् आहुः कर्मेत्यादि। श्रुतं च भक्तिश्च श्रुतभक्ती, तथा पूर्वोक्तवदल्पे श्रुतभक्ती येषां ते तथाल्पश्रुतभक्तयः। पूर्वोक्ताद्विशेषः कर्मशुद्धा इति। भगवदर्पितेन फलासङ्गरहितेन कर्मनिर्हारोद्देशतो वा कृतेन कर्मणाः शुद्धाः तदनुरूपचित्तशुद्धियुक्ताः पल्वलानि। वेशन्तपल्वलयोः शक्यतावच्छेदकतौल्येपि श्रुतौ ''पल्वल्याभ्यः स्वाहे''ति निर्देशभेदात् पलगतौ पलति पल्यते वेति निरुक्तिभेदाच्च तयोः कश्चित् भेदो वाच्यः। स चात्र कर्मशुद्धिभेदादवगन्तव्यः। तेनैवं पूर्वस्मादधिक्येपि गन्तृत्वान्महिषादिगम्यतया कालुष्याच्च तत्तुल्यकक्षत्वमेव। तथा च तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति तत्सङ्गोप्यप्रयोजक इवेत्यर्थः। एवमत्र कीर्तयितृविषयकाः सन्देहा निवारिताः। कीर्तयितृषु च श्रोतॄणामुपकाराय वाच एव प्राधान्यात्तस्याश्च बहिरिन्द्रियत्वात्तदाधारभूतस्थूलदेहे प्राधान्येन गुणाधारा एव जलाधारसाम्येन निरूपिताः।

अतः परं भावयितृविषयकान् सन्देहान् वारयितुं तेषु लिङ्गशरीरस्य मनस एव प्राधान्याद्गुणा विशेषतो बहिर्न निर्गच्छन्ति इति दुर्लभत्वाद्गुणानामेव जलतुल्यत्वं निरूपयन्तो ''वर्ष्याभ्यः स्वाहे''ति श्रुतिमनुसृत्य पूर्वस्माद्विलक्षणमेकादशं भावम् आहुः **योगेत्यादि।**

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधो, यमाद्यष्टाङ्गसहितः। यथा द्वितीयस्कन्धे प्रथमाध्याये ''गृहात्प्रवजितो धीर'' इत्यादिना स्थूलभगवद्विषयकधारणावानुक्तः। ''यतः सन्धार्यमाणायां योगिनो भक्तिलक्षणः। आशु संपद्यते योग आश्रयं भद्रभीक्षत'' इत्यनेन तस्यापि भक्तिसाधकत्वोक्तः। ध्यानं सप्रयत्नश्चित्तव्यापारः। यथा ''केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्। चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्ख गदाधरं धारणया स्मरन्ती''त्यादिषूक्तं, आदिपदेन धारणा, एतैस्त्रिभिः समुच्चितैरेकैकेन वा संयुक्ता भगवतो गुणा योगप्रभावादयो रूपलीलादयश्च। कपिलदेवैः ''स्थितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशयम्'' इति। ध्यानविषये लीलानामप्युक्तत्वात्। तादृशा गुणा वर्ष्याः वृष्टिर्वर्षस्तत्सम्बन्धिन्य आपो वर्ष्याः, ता यथा दिव्याः भूमौ पतन्त्यो जलाशयान् स्वकाल एव भरन्ति, तथा योगादियुक्ता भगवद्गुणा अपि योगिषु वर्तमानाः भूमौ दुर्लभाः अधिकारिविशेषान् कृतार्थयन्ति, न सर्वान् इति अर्थः। यद्यपि वृष्टिजलं क्षेत्रादौ पतितं सत् संसारहेतुर्भवति, तथापि सोंशो नात्र दृष्टान्तफलतयाभिप्रेतः। तेषां योगित्वादन्तर्निष्ठत्वेन तथात्वस्य वक्तुशक्यत्वात्, कुयोगित्वापातेन विदूरकाष्ठत्वापाताच्च, ''वैराग्यं साङ्ख्ययोगौ च तपो भक्तिश्च केशवे, पञ्चपर्वेति विद्येयं यया विद्वान् हरिं विशेदि''ति निबन्धे योगस्य विद्यापर्वत्वेनोक्ततयात्रोत्कर्षार्थं तद्ग्रहणाच्च। दार्ष्टान्तिकतयात्र गुणानामेवोक्तत्वाच्च। अन्यथा तु भावकथनस्योपक्रान्तत्वेन तद्विरोधापत्तेश्च। तस्मात्पूर्वोक्तमेव दृष्टान्तफलं ग्राह्यम्। इतः पूर्वं कर्मशुद्धानामुक्तत्वादत्र तत्प्रसङ्गेन योगस्मरणं, योगस्यापि कर्मविशेषत्वात् इति।।७ १/२।।

अतः पर ''मवर्ष्याभ्यः स्वाहे''ति श्रुतिमनुसृत्य कर्मसम्बन्धिमेव द्वादशं भावम् आहुः **तप** इत्यादि।

तपोज्ञानादिभावेन स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः।।८।।

तुः प्रकरणभेदकः। ''तप सन्तापे'', शरीरेन्द्रियादिकं तपति यत्कर्म कृच्छ्रचान्द्रायणानशनादिरूपं तत्तपः, ज्ञानं सेश्वरसाङ्ख्यादिसिद्धं, आदिपदेन त्यागः, तेषां भावेन विद्यमानतया संयुक्ता ये गुणास्ते स्वेदजाः प्रकीर्तिताः। अत्र

योगध्यानादिसंयुक्तपदैकदेशभूतं संयुक्तं पदमनुषज्जते। तथा च तादृशा गुणाः स्वेदजाः प्रकीर्तिताः, ''ष्विदा गात्रप्रक्षरणे'', धर्मश्रमादिना सन्तप्ताद्गात्रात्प्रसृतं यज्जलं सः स्वेदस्तस्माज्जाता वर्षजलभिन्नत्वेपि बिन्दुरूपत्वाद्वर्ष्यतुल्या अवर्ष्याः या आपो वस्त्रादावेकीभूतास्तत्तुल्याः। ता यथा न समीचीनव्यवहारयोग्याः, किन्तु तद्गात्रस्यैव तापनिवारिकाः, नान्यस्य, एवं तद्गता गुणा अपि इति अर्थः। तेन तादृशामपि सङ्गो न प्रकृतोपयोगी। तपआदिष्वेव विशेषाभिनिवेशेन गुणानां गौणत्वात्क्वचिन्मुख्यत्वेपि प्रकृतानुपयोगित्वात् इति। अवर्ष्यत्वं च वर्ष्यभिन्नत्वे सति तत्समानत्वं, तच्च भूयः प्रक्षरणाद्बोध्यम्।

सायणीये तु वर्ष्यनैरपेक्ष्येण भूमाववस्थिता अवर्ष्या इति व्याख्यातम्, तन्नास्माकं रोचते। पर्युदासस्य सदृग्ग्राहित्वेन भूमाववस्थिते तत्सदृशत्वाभावात्। अतस्तदर्थं तत्र स्वेदजलमेव ग्राह्यं, भूयः सादृश्यात् इति।

अतः परं ''ह्रादुनीभ्यः स्वाहे''ति श्रुतिमनुसृत्य कीर्तयितृनिष्ठमुत्कृष्टं त्रयोदशं भावम् आहुः अलौकिकेनेत्यादि ।

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः।

कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः।।९।।

तुः पूर्वोक्तसादृश्यभेदकः। अलौकिकं भगवत्कृपाजन्यं महदनुग्रहजन्यं वा अलौकिकार्थप्रकाशत्वाल्लोकविलक्षणं यत्, ज्ञानं तेन प्रत्यासत्तिभूतेन मनसि तेषां भानात्तेनैव श्रोतुरधिकारस्यापि भानात् प्रकर्षेण तदधिकारानुसारेणोक्ताः कादाचित्काः श्रोतृणां कस्मिंश्चित्कालविशेष एव बुद्धिगोचराः शब्दगम्या आप्तवाक्यादेव ज्ञायमाना ईदशा ये हरेः सर्वदुःखहर्तुर्गुणाः रूपलीलाविशेषाः प्रकर्षेण कीर्तिताः। ''पत्लृ गतौ,'' पतन् सर्वतो गच्छन् शब्दो ह्रादो यासामपां ताः पतच्छब्दास्तादृशाः प्रकर्षेण कीर्तिताः। तथा च भगवतो रहस्या ये गुणास्ते तादृशेभ्य एव कीर्तयितृभ्यः श्रोतृभिः प्राप्यन्ते, न सर्वैः। अतस्तादृशाधिकारसम्पत्तौ तादृशां कीर्तयितॄणां सङ्गः सर्वथा कार्य एवेति भावः।।९।।

अतः परं ''पृष्वाभ्यः स्वाहे''ति श्रुतिमनुसृत्य चतुर्दशं जघन्यं भावम् आहुः **देवेत्यादि।**

देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेरिवोद्गताः।

देवाः श्रौताः पौराणिकाश्च शिवाग्निदुर्गागणपतिप्रभृतय **आदिशब्देनान्ये** पितृमात्रादयस्ते**षामुपासनं** स्वरूपचिन्तनं सेवनं वा तेनो**द्भूता** उपासके उद्गताः

स्वयमन्यैश्चानुभूयमाना इति यावत्। ईदृशा ये गुणाः ज्ञानबलसामर्थ्यादयस्ते पृष्वाः अवश्यायजन्या आपः पृष्वा इति सायणभाष्ये व्याख्यातं, तत्तुल्याः। ता यथा पाषाणभूमौ पतिताः, तत उद्गता इव भासन्ते, न तु तास्तदीयाः, एवं तेऽपि गुणा भगवदीया एव, ''यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा, तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भवम्'' इति गीतावाक्योक्तन्यायात्। परन्तु तानुपासकाः स्वीयत्वेन देवीयत्वादिना वा भ्रमान्मन्यन्ते, तेन च उत्सिच्यन्ते साहङ्कारा भवन्ति इति यावत्। अतस्तेषां स्वरूपं फलं च जघन्यमेव। नीहारेण प्रावृता इति श्रुतौ नीहारस्य ज्ञानतिरोधायकत्वेनोक्तत्वात् इति तेषूत्कर्षबुद्धिस्तादृशां सङ्गश्च न कार्य इति अर्थः।

अतः परं ''स्यन्दमानाभ्यः स्वाहे''ति श्रुतिमनुसृत्य पञ्चदशं भावम् आहुः **साधनेत्यादि।**

साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः।।१०।।
प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः।

साधनानि वर्णाश्रमधर्मास्ते आदयो यस्य तादृशो यः प्रकारो मर्यादामार्गीयो निष्कामतत्करणरूपस्तेन **प्रकारेण यो नवधा भक्तिमार्गः**। ''श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्। इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणे''ति वाक्योक्तो मार्गो भगवत्प्राप्त्युपायः। ततो या प्रेम्णः भगवद्भक्तिरूपस्य पूर्तिर्हृदये व्याप्तिस्तया कृत्वा स्फुरन्तो भगवद्धर्मायेषु ते स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः। स्यन्दू प्रस्रवणे, प्रस्रवणरूपा या आपस्तादृशाः। ता यथा स्नानपानाचमनादौ प्रशस्ताः स्वसंयुक्तां भूमिं शीतलां कुर्वन्ति, सर्वानुपकुर्वन्ति च, तथा तादृशगुणाधाराः पुरुषा अपि पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वान् श्रोतॄन् द्रष्टॄंश्च स्वात्मनश्च भगवदुपयोगिनः कुर्वन्ति इति तादृशां सङ्गः कार्य इति अर्थः।।१०।।

अतः परं ''स्थावराभ्यः स्वाहे''ति श्रुतिमनुसृत्य षोडशं भावम् आहुः **यादृशा** इत्यादि।

यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः।।११।।
स्थावरास्ते मया ख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः।

यादृशाःसाधनादीत्यारभ्य धर्मा इत्यन्तेन यत्प्रकारकाः सिद्धास्तादृशास्तत्प्रकारकाः सन्तः प्रोक्ताः प्रकर्षेण शास्त्रे उक्ताः, ये गुणाधारा वृद्धिक्षयविवर्जिताः न वर्धन्ते, न वा क्षीयन्ते, किन्त्वेकरूपास्तिष्ठन्ति। किञ्च, मर्यादैकप्रतिष्ठिताः। ''एके

मुख्यान्यकेवलाः'' मर्यादायामेव एके च ते प्रतिष्ठिताश्च एकप्रतिष्ठिताः मुख्याः प्रतिष्ठां च प्राप्ताः ते गुणाधारा मया स्थावरा एकत्र प्रतिष्ठिता या आपस्ताः स्थावराः तत्तुल्याः ख्याताः प्रकथिताः। ता यथा एकत्रैव तिष्ठन्ति स्वाधारमेव च शीतलीकुर्वन्ति, गुणवत्तया ख्यापन्ति च। नतु स्वत उद्यम्यान्यानुपकुर्वन्ति, तथा ते गुणाधाराः पुरुषा अपि स्वसम्बद्धान् स्वाधारं च ख्यापयन्ति। तेन तादृशां सङ्गस्तावन्मात्रगुणकः, न तु विशेषानुग्रहफलक इति अर्थः। अत्र मयेत्युक्त्या नान्येषां सम्मतिरिति बोधितम्। अन्येषां मर्यादाप्रतिष्ठितत्वेन पुष्टिस्वरूपस्याज्ञानान्मार्यादिकेषूत्कृष्टबुद्धेरिति।।११ १/२।।

अतः परं ''नादेयीभ्यः स्वाहे''ति श्रुतिमनुसृत्य सप्तदशं भावं सार्धेनाहुः **अनेकेत्यादि।**

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा।।१२।।
सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि।
निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः।।१३।।

अनेकेषु जन्मसु संसिद्धाः सम्यक्सिद्धाः पूर्वानुरूपतया सिद्धाः। जन्मप्रभृति इति क्रियाविशेषणम्। एतज्जन्मारभ्य, सर्वदा सर्वस्मिन्काले सङ्गातगुणदोषाभ्यां, आदिशब्देन कालकर्मदेशस्वभावास्तत्कृतौ यौ गुणदोषौ ताभ्यां कृत्वा भुवि भवनं भूः उत्पत्तिर्विद्यमानता वा तास्यां वृद्धिक्षययुताः सत्सङ्गेन समीचीनदेशकालकर्मस्वभावैर्वृद्धिमन्तः दुःसङ्गादसमीचीनकालकर्मदेशस्वभावैः क्षयं प्राप्नुवन्तः, ईदशाः सन्तोपि निरन्तरोद्गमयुता निरन्तरो यदुद्गमः प्रवाहस्तेन युतास्तादृशा ये गुणास्ते नादेयीनामपामाधारभूता या नद्यस्तत्तुल्याः कीर्तिताः। तथा च नद्यो यथा काश्चित्स्वभावतः शुभाः काश्चिद्दुष्टाः, यथा गङ्गादयः, कर्मनाशादयश्च, काश्चन कालतः यथा ''कलौ वेत्रवती गङ्गे''ति। गङ्गा च न पूर्ववत्स्नानमात्रेण कुष्ठं हरति इति, तथा देशतः यथा भागीरथी महानदी च प्रवाहदेशभेदात्। एवं सङ्गादपि ज्ञेयाः यथा श्रीयमुनासङ्गेन गङ्गा उत्कृष्टा जाता, तासां जलं च तादृशमेव, तथा तद्भावा अपि इति तन्निष्ठा गुणा अपि तत्स्वरूपा इति तादृशां सङ्गो न निश्चयेनोत्तमफलद इति अर्थः। अत्र च नदीनामेतावद्विशेषणकथनं दार्ष्टान्तिके एतेषामेव धर्माणां प्राप्त्यर्थम्। तेन भावेषु गुणेषु तदाधारेषु चैत एव धर्मा अतिदेष्टव्याः, नेतर इति सूचितम्। अन्यथैतावत्कथनवैयर्थ्यापत्तेरिति।।१२।।१३।।

अतः परं ''सैन्धवीभ्यः स्वाहे''ति श्रुतिमनुसृत्याष्टादशं भावम् आहुः **एतादृशा** इत्यादि।

एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत् सिन्धवः परिकीर्तिताः।

अत्रैतादृशा इत्यनेनाद्यन्तविशेषणयोः सङ्ग्रहः। स्वतन्त्रा इत्यनेन मध्यविशेषणनिरासः क्रियते। तथा चैतादृशा अनेकजन्मसंसिद्धा निरन्तरोद्गमयुताः स्वतन्त्राः जन्मप्रभृति सर्वदा सङ्गगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षयरहिताश्चेत्स्युः तदा ते जीवाः सिन्धवः समुद्रगामिन्यो महानद्यो महानदाश्च तत्तुल्याः परिकीर्तिताः। तेषां भावो महानदीजतुल्यः। तद्यथा दृष्टं स्पृष्टं समीचीनव्यवहारेण शुभफलं गृहादावानीतमपि शुभम्, तथा तद्गता गुणा अपि स्वरूपतः फलतश्चोत्तमा इति तादृशां सङ्गः कर्तव्य इति भावः।।१३ १/२।।

अतः परं ''समुद्रियाभ्यः स्वाहे''ति श्रुतिमनुसृत्य तत उत्तममूनविंशं भावम् आहुः **पूर्णा** इत्यादि।

पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः।।१४।।

जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः।

पूर्णाः ज्ञानक्रियाभक्तिसाफल्ययुक्ताः भगवदीया भगवत्सम्बन्धिनः। भगवदीयशब्दो अव्युत्पन्नो वैडूर्यादिशब्दवद्रूढो ''भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था'' इति श्रीभागवतपञ्चमस्कन्धे प्रयोगादवगन्तव्यः। य इति दुर्लभत्वं तेषां सूच्यते। तान् गणयन्ति शेषेत्यादि। शेषः सङ्कर्षणः सनत्कुमारोपदेष्टा। व्यासो भगवान् बादरायणः, भगवतो ज्ञानावतारः, समाधौ भगवत्स्वरूपं लीलां चानुभूय श्रीभागवतमुक्तवान्, शुकं च पाठितवान्। अग्निरग्निपुराणवक्ता, मारुतो वायुपुराणवक्ता, जडो रहूगणोपदेष्टा, नारदः प्रसिद्ध एव, सनत्कुमारशिष्यः प्राचीनबर्हिर्गुरुः, मैत्रो मैत्रेयः विदुरोपदेष्टा, आदिपदेन शिवादिसङ्ग्रहः। ते समुद्राः प्रकीर्तितास्तेषां भावः समुद्रजलतुल्यः। समुद्रजलं यथातिगम्भीरं अक्षोभ्यं रत्नानामाकरभूतं तथा तेषां भावोप्यत्यन्तगम्भीरोऽक्षोभ्यो नानाविधभावाकरश्चेति तन्निष्ठा गुणा अपि तथेति तादृशां सङ्गः सेवा च स्वरूपतः फलश्चोत्तमेति सा कार्येत्यर्थः।।१५ १/२।।

पूर्वं भावनिरूपणारम्भे श्रुतिपुराणसिद्धाः गन्धर्वाः ''कूपभेदास्त्वि''त्यर्धेन यथा नानाभेदा उक्तास्तथा अन्ते पुराणादिप्रसिद्धान् भगवदीयानपि नानाभेदात् द्वाभ्याम् आहुः **लोके**त्यादि।

लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेगुर्णान्।।१५।।

वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः।

गुणातीततया शुद्धान्सच्चिदानन्दरूपिणः।।१६।।

सर्वानेव गुणान्विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः।

तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम्।।१७।।

लोकश्च वेदश्च गुणाश्च लोकवेदगुणास्तैर्मिश्रभावेन मिलितत्वेन एके मुख्य भगवदीयाः हरेः सर्वदुःखहर्तुर्भगवतो गुणान् वर्णयन्ति। यथा वाल्मीकी रामायणे रामगुणान् लोकमिश्रानुक्तवान्। यथा चाध्यात्मरामायणे शिवो रामगुणान् वेदमिश्रान्। यथा विष्णुपुराणे पराशरः सत्त्वगुणमिश्रान्। यथा च मनुःस्मृत्यारम्भे रजोमिश्रान्। ''स्वयंभुवे नमस्कृत्ये''त्युक्त्वा पश्चादग्रे सृष्टिं वर्णयिष्यन् ''ब्रह्मा नारायणाख्यस्तु सुष्वाप सलिले तदे''त्युक्तवान्। यथा च वायुर्वायवीये शिवरूपमेव ब्रह्मत्वेनोक्तवान्। न च मनोर्भगवदीयत्वाभावः शङ्क्यः। तृतीयस्कन्धे तस्य तथात्वसाधनात्। न वा वायोः। हनुमदवतारे तस्य रामभक्तेनैव सुप्रसिद्धत्वात् इति। न च गुणमिश्रवर्णने गुणाभिमानिवर्णनम् इति शङ्क्यम्। तत्र तदुक्तेषु ब्रह्मविष्णुमहेश्वरेषु अभिमानित्वापादकस्य कालभयस्यानुक्तत्वात्। अतो गुणावतारा एव तत्रोच्यन्ते, न जीवाः एवमत्र लोकवेदगुणमिश्रभावेन पञ्चैव सिध्यन्ति, न षष्ठः, अतो लोकवेदगुणैरुपलक्षितान् मिश्रभावेनोपलक्षितान् हरेर्गुणान् वर्णयन्ति इति व्याख्येयम्, तथा सति सङ्कीर्णपुराणवक्तारः षष्ठा भविष्यन्ति इति तैः सङ्ख्यापूर्तिः। एवञ्च तत्तद्भावस्तत्तज्जलतुल्योवगन्तव्यः। तज्जलं यथा क्षाराम्लमादनाव्यक्तम धुरस्नेहव्यक्तमधुरगुणकम्, तथा तेषां भावोपि इति तन्निष्ठा गुणा अपि लोकादिप्रधानास्तदनुरूपफलदा इति तत्सङ्गोपि तथेत्यर्थः। न च गुणाद्युपलक्षिता गुणा न मूलगुणा इति शङ्क्यम्। ''यदादित्यगतं तेज'' इति न्यायेन तेषामपि भागवतत्वे बाधकाभावादापाततः प्रतीतेरप्रयोजकत्वाच्च, अत एव निबन्धे ''सर्वस्वरूपी कृष्णस्तु कर्ता तेषु तथोदित'' इति स्थितम् इति न काचिच्छङ्का। एवं षट् समुद्रतुल्यान् भगवदीयानुक्त्वा सर्वत उत्तमान् सप्तमानाहुः **गुणातीततयेत्यादि।** स्वस्य गुणातीततया शुद्धान् लोकवेदगुणामिश्रान् सच्चिदानन्दरूपिणः सच्चिदानन्दात्मकान्, विष्णोरित्यस्य वा विशेषणं, तथा च सच्चिदानन्दरूपिणो विष्णोः तादृशान् शुद्धान् सर्वान् गुणान् स्वयं गुणातीततया विचक्षणाः सर्वज्ञातारः सन्तो ये वर्णयन्ति, ते अमृतोदाः शुद्धोदसमुद्रतुल्याः सम्यक्प्रकारेण आख्याताः कथिताः। अतस्तादृशां भावो गुणातीत एवेति। तत्र भगवद्गुणा अपि स्वस्य यथावत्स्वरूपतया प्रकाशमाना भवन्ति इति तेषां सङ्गो दुर्लभ इति तद्वाक्यानां तेषां या वाचस्तासां स्वान्तःप्रवेशनं सुतरां दुर्लभम् इति

अर्थः। अत्र शुद्धादा इत्यनुक्त्वा यदमृतोदा इत्युक्तं तेन श्वेतद्वीपादिपरिखाभूतावरण्याख्यौ ''अरश्च ह वैण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके'' इति श्रुत्युक्तौ ''अरनामामृतांभोधिर्ण्यनामामृतसागर'' इति वाराहपुराणोपबृंहितौ समुद्रावपि सङ्गृहीतौ ज्ञेयौ। किञ्च, 'कूप्याभ्य' इत्यादि श्रुतौ ''सर्वाभ्यः स्वाहे''ति समाप्तावुक्तम्। तत्र सर्वशब्दस्य पूर्वोक्तसङ्ग्राहकत्वे अपां ऊनविंशति भेदा एव भवन्तीत्यभिप्रेत्य सर्वशब्दस्य समुद्रजल एव निवेशः कृतः। एतदभिप्रायेणैव ''नद्यः प्रसन्नसलिला'' इत्यस्य सुबोधिन्या ''मापो बहुविधा एकोनविंशति भेदा'' इत्युक्तम्। न च पूर्वं शेषादीन् सप्तोक्त्वा ततो लोकेत्यादि सार्धद्वयेन समुद्रविभागस्योक्तत्वाच्छेषादय एव सप्तात्र ग्राह्याः, नेतर इति शङ्क्यम्। तत्र यथायथं क्रमेण ग्रहणे शेषव्यासयोः क्षारदधिमण्डोदतुल्यत्वापत्त्या प्रतिलोमग्रहणे च मैत्रेयनारदयोस्तथात्वापत्त्या निकर्षापत्तेः। अतस्तत्राद्यशब्दोक्ता

[१] इतर एव किञ्चित्तद्धर्मसाम्येन षड् ग्राह्याः। तेन पूर्वोक्ताः सप्तामृतोदेष्वेव प्रविशन्ति इति मम प्रतिभाति।।१५।।१७।।

नन्वेवं सति तेषां तादृशां च दुर्मिलत्वात्तद्वाक्यानामिदानीन्तनानां कालादिदोषदुष्टानामलभ्यमेवेति वक्तव्यं, न तु सुदुर्लभम् इति शङ्कायाम् आहुः **तादृशानाम्** इत्यादि।

तादृशानां क्वचिद्वाक्यं दूतानामिव वर्णितम्।

अजामिलाकर्णनवद्बिन्दुपानं प्रकीर्तितम्।।१८।।

तादृशानामपि क्वचिद्भगवतोद्धार्यत्वेन विचारिते केनचिदपराधदिना भगवद्वियुक्ते पुरुषे भगवतस्तदुद्धारोदि्दधीर्षायां वाक्यं श्रुतिगोचरं भवति इति शेषः। तत्र प्रमाणम् आहुः दूतानामिव वर्णितम् इति। यथा षष्ठस्कन्धे भगवदद्तानां वर्णितं वाक्यमजामिलस्य श्रुतिगोचरभूत्तथेदानीमपि भगवदुदि्दधीर्षाविषयस्य भवति इति नालभ्यम्, किन्तु सु दुर्लभमेवेत्यर्थः। एवं तादृशां सङ्गं तद्वागन्तः प्रवेशं च साधयित्वा श्रोतॄणामुदि्दधीर्षाविशेषविषयत्वप्रकारज्ञापनाय पाने विशेषम् आहुः अजामिलेत्यादि। **अजामिलेन** यथा यमदूतान् प्रत्युच्चमानं भगवद्दूतवाक्यमाकर्णितं, तथा चेदाकर्णयेत्तदाकर्णनं बिन्दुपानं प्रकीर्तितम्। जलबिन्दोर्यथा पानं न तृप्तिदं, किन्त्वीषत्सुखदं, तथा स्वोद्देशेनान्यान् प्रत्युच्मानं तदुद्देशेन वा तान् प्रत्युच्मानं स्वमाकर्णयेत्तदा तद्बिन्दुपानतुल्यं स्वदोषज्ञानेन सांसारिकग्लानिजनकं पश्चाज्जन्मान्तरे भगवत्प्राप्तिफलकं चेत्यर्थः। यदा त्वेतदुद्देशनैव भगवद्गुणबोधकं वाक्यममृतोदतुल्यैरुच्यते, तदा त्विहैव भगवत्प्राप्तिफलदम् इति तत्स्वरूपम् आहुः **रागे**त्यादि।

१. वाल्मीकिशिवपराशरमन्वादयः।

रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा।

तदा लेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम्।।१९।।

रागश्च अज्ञानं च ते आदिर्येषां तादृशा ये भावाः कामक्रोधादिविकारभाजस्तेषां यदा नाशनं निवृत्तिरमृतोदानां वाक्येन भवति इति[१] शेषः। तदा तद्वाक्पानं तत्कालमेव स्वगुणं जनयल्लेहनमित्युक्तं, लिह आस्वादने, आस्वादनमित्युक्तम्। तत्र हेतुः। **स्वानन्दोद्गमकारणम्** इति। स्वस्य भगवतो य आनन्दः स्वरूपात्मको लीलात्मको वा तस्य च उद्गम उच्चैः प्राकट्यं तस्य कारणं, तथा चैवं दोषनिवृत्तिपूर्वकपरमानन्दसाधकत्वात्तत्पानं लेहनरूपम् इति अर्थः। एवमपां ऊनविंशतिभेदपक्षादरणेन सर्वे भावास्तद्वन्तो जीवास्तद्गता गुणाश्च प्रपञ्चेन निरूपिताः।

अतः परं सायणीये ''सर्वाभ्यः स्वाहे''त्यस्य तद्व्यतिरिक्ता इति अर्थ उक्त इति तमनुसृत्य पूर्वेभ्योतिरिक्तं विंशं भावम् आहुः **उद्धृतेत्यादि**।

उद्धृतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्तथा।

उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं वापि तथा ततः।।२०।।

सर्वे पूर्वोक्तातिरिक्ता ये गुणा भावास्तदाधाराश्च ते उद्धृतोदकवत् कूपतडागादिभ्यः पात्रेषूद्धृतं यदुदकं तद्वत्, उद्धृतं जलं यथा परिमितं यादृशभाण्डस्थं तदनुरोधेन शुद्धयशुद्धिमच्च भवति। क्वचित्किञ्चित्स्वाकारानुकार्यपि भवति। तथा ते उक्तातिरिक्ता भावा अपि परिमिता आधारानुसारेणाकारानुसारेण च शुद्धयशुद्ध्यादिभाजः। तथेति वैयधिकरण्यदृष्टान्तबोधकं, उक्तारिक्तानां भावाधिकरणानां वाक्यानि, पतितोदकवत् पात्रेभ्यः पतितं यदुदकं तद्वत्। पतितोदकं यत्र पतति तदार्द्रीकुर्वत् क्वचिद्गुणं क्वचिद्दोषं च विधत्ते। तथा तेषां वाक्यानि आधारमार्द्रीकुर्वन्ति, तदनुसारेणैव गुणदोषकराणि। वैत्यनादरे, आत्मनः फलमपि तथा, आत्मनो गुणाधारस्य फलमपि तथा भाववदेव। चकारपाठे तु च पुनरित्यर्थो वक्तव्यः।।२०।।

एवं भगवद्गुणाधारभूतान् जीवानां भावान् तदधिकरणभूतान् जीवांश्च भगद्गुणस्वरूपफलभेदार्थं निरूप्योपसंहरन्ति इति इत्यादि।

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि।

रूपतः फलतश्वैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः।।२१।।

इति उक्तप्रकारेण **भुवि** भूलोके जीवेन्द्रियगताः, जीवाः शरीरविशिष्टाश्चेतनाः, इन्द्रियाणि मनोवाक्चक्षुःप्रभृतीनि, तद्गतास्तेषु स्थिताः नानाभावं गताः तत्र स्थित्यैव रूपतः

१. रागनिवृत्तिः प्राचीनबर्हिषः जाता। यथा चाज्ञाननिवृत्तिः रहूगणस्य जाता। यथा च आदिशब्देन द्वेषस्तन्निवृत्तिः विदुरस्य जाता। एवमन्यत्र ।

फलतश्च अनेकभावं प्राप्ताः, विष्णोर्व्यापकस्य भगवतो गुणा धर्माः निरूपिताः, नितरां कथिताः। तथा च भगवन्निष्ठत्वेनैकरूप्येप्याधारभेदेन तल्लिङ्गास्तदनुरूपफलाश्च भवन्ति इति तदाधारस्वरूपं विचार्य तज्ज्ञानार्थं जीवसङ्गो भगवद्भक्तैर्विधेयो, नतु कथञ्चित् गुणसत्तामात्रेणेत्यर्थः। अत्रोपसंहारे गुणा निरूपिता इति कथनेन गुणनिरूपणमेव मुख्यम्। भावतदाधारनिरूपणं तु तदुपोद्घततया प्रासङ्गिकम् इति बोधितं ज्ञेयम्।।२१।।

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमविरचिता जलभेदविवृतिः सम्पूर्णा।।

श्रीकृष्णाय नमः।

जलभेदः।

श्रीवल्लभकृतविवृतिसमेतः।[1]

श्रीमदाचार्यचरणसरोजे शरणं सदा।तेनैव खलु तद्वाक्यभावार्थवगर्तिमम।।१।।
नानामार्गेषु विविधभावैस्ते तेऽधिकारिणः।प्रवृत्तास्तत्तदेवात्र मन्यन्ते भजनं हरेः।।२।।
अतस्तन्मार्गभावाधिकारिणांतत्स्वरूपतः।फलतश्च निजाचार्याः सन्देहविनिवृत्तये।।३।।
वेदबोधितकूपादिजलदृष्टान्तभेदतः।विवेकं चक्रिरे तत्तद्भावार्थो हि प्रकाश्यते।।४।।

तत्र प्रथमं ''निवृत्ततर्षैरुपगीयमाना''दित्यत्र भगद्गुणानुवादे ''आत्मघाती कर्मजडो निन्दितार्थरतः सदा। पशुस्त्री च'' एतद्व्यतिरिक्तानां सर्वेषां प्रवृत्तिरुक्ता। ते च मुक्तमुमुक्षुविषयणः। तत्र मुक्तानां ''आत्मारामाश्च मुनय'' इत्युक्तप्रकारेण प्रवृतिः। मुमुक्षूणां विहितभक्तिज्ञानयोगतपः कर्मादिसाधनप्रकारेण बहुधा सा भवति। विषयिणां तु तत्र रागादिमाधुर्यतः प्रवृत्तिर्न तु धर्मतः। तथा च, ''वेदे रामायणे चैव भारते'' इत्यत्र ''हरिं सर्वत्र गीयते'' इति उक्तत्वात् सर्वत्र सर्वेषु धर्मेषु भगवद्गुणप्रवेशस्यावश्यं वक्तत्वात् तेषां सर्वेषां साधनफलयोरेकरूपत्वं वा नानात्वम् इति सन्देहे तन्निर्णायकं ग्रन्थं निरूपयितुं श्रीमदाचार्यचरणाः प्रतिजानते–

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान्।
भावान्विंशतिधा भिन्नान्सर्वसन्देहवारकान्।।१।।

हरिं नमस्कृत्य भावान् वक्ष्ये। भावास्तु ''इति जीवेन्द्रियगता'' इत्यत्रोपसंहारे जीवगता एवोक्ता इतयुपक्रमेपि त एव ज्ञेयाः। तैरेव भगवद्गुणानामनेकरूपत्वम्, अन्यथा भगवद्गुणाः सर्वे तत्तस्वरूपात्मका इत्येकरूपत्वमेव, गुणगुणिनोरभेदात्। आधारगुणसम्बन्धादेव तेषां भेद इति विशेषणम् आहुः **तद्गुणानां विभेदकान्** इति।

१.श्रीवल्लभकृतेयं टीकेति विषये उपोद्घातो द्रष्टव्यः।

भगवद्गुणानां स्वरूपतः पृथक्कारकान् भिन्नत्वेन ज्ञापकान् इति अर्थः। अथवा स्वस्वभावानुसारेण फलसाधकान्, न तु तदनुसारेणेत्यर्थः। एतदेव भेदकत्वं भावानाम्। ते भेदाः कति इति प्रमाणम् आहुः **विंशतिधा भिन्नान्** इति। तत्रापि द्वैविध्यम्। एके जीवाधिकारनुसारिणः। एके पुनः कृपया भगवद्दानजन्याः स्वरूपनिष्ठाः स्वतन्त्रास्ते भिन्नाः, ते एवाग्रे अमृतोददृष्टान्तेन वाच्याः। एते सर्वेपि भेदा वेदे कथिताः ''कूप्याभ्यः स्वाहा'' इत्यादिना। एतद्विवेचने सर्वेषां स्वरूपज्ञानेन सर्वे सन्देहा निवर्तन्त इत्याहुः सर्वसन्देहवारकान् इति। एतदर्थमेव वेदेप्युक्ताः।।१।।

ननु कूपादिदृष्टान्तेन भेदज्ञानं कथं भविष्यति तत्राहुः–

गुणाभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः।
गायकाः कूपसंकाशा गन्धर्वा इति विश्रुताः।।२।।

नह्यत्र कूपादिदृष्टान्तः, किन्तु तत्तस्थितगुणदोषसहितजलदृष्टान्तोभिप्रेतः। तेन यावन्तो जले भेदास्तावन्तो भेदा गुणानामपि भवन्ति इति भावः। तत्र प्रथमं प्रथमादिखारित्वाद्विषयिणां भावम् आहुः **गायका** इति। गायका भगवद्गुणगायकाः। ते तु गन्धर्वा विश्रुताः प्रसिद्धाः। तेषामयमेव सहजो धर्मः यत्सङ्गीतशास्त्रोक्तं भगवद्यशः प्रबन्धरागतानाद्यालापकुशला रागादिमाधुर्यविषयत्वेन गायन्ति, न तु भगवद्धर्मस्वरूपं ज्ञात्वा, परन्तु भृतकाध्यापनवन्न गायन्ति, तादृशास्ते कूपसङ्काक्षाः कूपतुल्याः प्रोक्ताः। सामान्यतः कूप उक्तो न तु गुणदोषयुक्त इति। यथा कूपो महान् रमणीयः जलमपि समीचीनमेव, परन्तु दूरे अधस्तलं, तेनेतरविषयप्रयन्तत्यागेन रज्जवादिसाधनपूर्वंक तदाहरणे तत्प्राप्तं, भवेत्, तथा तेषां भगवद्यशोगानं तूत्तममेव, परन्तु तस्य परमफलमन्यविषयकप्रयत्नत्यागे तदेकनिष्ठगुणगानेन प्राप्तं भवेत्, नो चेद् दूर एवेति भावः सूचितः वस्तुस्वभावात्तथा तदेकनिष्ठगुणगानेन प्राप्तं भवेत्, नो चेद् दूर एवेति भावः सूचितः। वस्तुस्वभावत्तथा भवेदपि इति सामान्यदृष्टान्त उक्तः।।२।।

एतादृशा गन्धर्वा अपि बहुविधा इति तद्भेदानाहुः

कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि संमताः।
कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारंपर्ययुता भुवि।।३।।

यथा कूपभेदा बहवस्तथा गायका अपि बहुविधा ज्ञेयाः। तानेवाग्रे ''वेश्यादिसहिता'' इत्यनेन वक्ष्यन्ति। मध्ये पौराणिकान्निरूपयन्ति **कुल्या** इति। यद्यपि गायकप्रकरणमध्ये पौराणिकनिरूपणं न सम्भवति, तथापि यन्निरूपितं तत्तादृशपौराणिकानां गायकतुल्यत्वमेवेति ज्ञापनायोक्तम्। अत्रायं भावः। गानं

द्विविधम्। एकं संगीतशास्त्रोक्तं रागतालमूर्च्छनादिभेदेन अपरं वक्तृश्रोतृसद्भावे पुराणकथनद्वारा गुणानुकीर्तनम्। उभयेपि तत्तदुपजीविनः, परन्तु भृतकाध्यापनवन्न गायन्ति इति सामान्यदृष्टान्तेन ज्ञायते। वृत्त्युजीविनामग्रे निन्दितत्वाच्च। एवं सति सामान्यत उभयेषां समानधर्मत्वाद्गायकानां मध्ये सामान्यतः पौराणिकानि निरूपयन्ति **कुल्या** इति। तेषां पुराणादिकथनं तु परम्पराप्राप्तम्, न तु कञ्चनोद्दिश्य ते कथयन्ति, तादृशास्ते कुल्याः अल्पाः कृत्रिमाः सरितः प्रवहणशीलास्तत्तुल्या इति अर्थः। यद्यपि ता अपि पारम्पर्ययुताः, यत आनीयन्ते तत्रागाधता, तथापि स्वयं त्वल्पाः कृत्रिमाः न तु सहजाः। तेनोपरोधे रुद्धा अपि भवन्ति इति सूचितम्। तथा तेऽपि यतः पुराणार्थोवगतः स गुरुर्महान्, परन्तु स्वयं त्वल्पपात्ररूपाः। साहजिकभगवद्धर्मप्रवृत्तिरहिताः। संसारस्थिताः। उपरोधे रुद्धाः अपि भवन्ति तादृशाः। परन्तु प्रवहणशीलत्वात् कुल्यानां तद्दृष्टान्तेन पुराणकथनद्वारा यथाधिकारं धर्मोपदेशका इति गायकसकाशादेतावान् विशेषः। अत एव द्वितीयभावत्वेन निरूपणम्।।३।।

तादृशा अपि केवलं वृत्त्यर्थमेव पुराणपाठकाः, तदा ततोपि हीनत्वम् आहुः।

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः।

ते च पुनः क्षेत्रप्रविष्टाः ''क्षेत्रं पत्नीशरीरयो''रिति स्त्रीपुत्रादिभरणपोषाणार्थं पुराणादिपाठे प्रविष्टास्तदा संसारोत्पत्तिहेतवो भवन्ति। यथा कुल्यासम्बन्धिन्य आपः क्षेत्रेषु प्रविष्टा यदा तदा संसारोत्पत्तिहेतवो रजोगुणयुक्तत्वेन रतेः पोषकवस्तूत्पादकत्वाविद्याधर्माणामेवोत्पादिका भवन्ति, न तु प्रवहणदशावच्छोधकत्वमुपकारकत्वं वा तेषां, तथा तेपि सांसारिकस्त्रीपुत्रादिभरणपोषणमात्रोपयोगित्वेन पुनः पुनर्जन्ममरणादियुक्ता एव भवन्ति, न परोपकारकाः स्वात्मशोधका वा भवन्ति। तादृशश्रवणपाठात् शक्तिह्रासे पुराणार्थाः फलदा न भवन्ति इति भावः। एतेन तेषां तृतीयमार्गप्रवेशो निरूपितः।।३ १/२।।

एवं भेदद्वयमुक्तमतः परं गायकभेदानाहुः

वेश्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिताः।।४।।

पूर्वोक्ता गायकाः भृतकधर्मरहिताः। तेषामन्यधर्माधिकाराभावात् गाने भृतकधर्मराहित्यमात्रमेवोत्तमत्वम्। तादृशाः पुनर्वेश्यादिसहिताः, आदिपदेनान्येपि विधर्माः पानादयः सूचिताः। अत एव मत्ताः, स्वपरधर्मविवेकरहिताश्चेत्तदा गर्ततुल्याः। गर्तोत्र जलरहितान्धकूपः। स यथाधस्तलपर्यन्तगतः दुष्टजीवकङ्कालादिस्थानभूतोन्येषां पतनहेतुश्च भवति, तथैतेपि स्वयं त्वधोगताः एवान्येषामपि पातहेतवो भवन्ति इति भावः।।४।।

एवं चतुर्थं भावमुक्त्वा पञ्चमं भावम् आहुः

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः।

गर्ता अपि बहुविद्या इति ये जलार्थं जलसङ्ग्रार्थमेव क्रियन्ते, गानोपजीविनो भृतकाध्यापनवत् गन्धर्वास्तत्तुल्याः। यथा तज्जलस्य प्रयोजनमुपजीवनमेव, नान्यत्, कर्माद्युपयोगित्वाभावात्तीर्थरूपत्वाभावाच्च। तथा तेषामपि तेन गानेनोपजीवनमेव भवति, न तु कश्चन विशिष्टो धर्मो भवति, प्रत्युत पापमपि भवेन्निषिद्धत्वात्तस्येति भावः। एवं गन्धर्वाणां त्रयो भेदा उक्ताः।।४ १/२।।

एवं विषयिणां भावानुक्त्वा मुमुक्षूणां भावान्निरूपयन्तः षष्ठं भावम् आहुः

ह्रदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः।।५।

ह्रदास्तु इति। पूर्वे तु सन्मतित्वाभावादपण्डिताः, एते तु पण्डिताः धर्माधर्मविवेकिनः कर्ममार्गीया यद्यपि गृहादिसंसक्तास्तथापि निवृत्तिमुखाः। अत एव मोक्षेच्छया भगवच्छास्त्रे तत्परा जाताः। तादृशास्ते ह्रदा ह्रदतुल्या इति अर्थः। अत्रापि सामान्यतो ह्रद उक्तो, न तु कश्चन विशेषः, तेन ह्रदो यथा प्रवाहधर्मरहितो निर्मलः, यथा तेपि प्रवाहधर्मान्निवृत्ता निर्मलप्रज्ञा इति सूचितम्। तत्परत्वकथनेन तद्धर्मजिज्ञासैवास्ति, न तु निःसन्दिग्धं धर्मा ज्ञाता इति ज्ञाप्यते। एतेन तेषां प्रथमप्रवृत्तिः सूचिता।।५।।

ततोग्रेतनभावविशिष्टं स्वरूपं निरूपयन्तः सप्तमं भावम् आहुः-

सन्देहवारकास्तत्र सूदा गम्भीरमानसाः।

सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः।।६।।

तत्र भगवच्छास्त्रेषु ये सन्देहवारकाः, बहुनां मतानां कथनात्तेषु सन्देहा उत्पद्यन्ते, तेषां ये निवारकास्ते सूदाः। सुष्ठु शोभनमुदकं येषां तादृशा ह्रदास्तद्रूपाः। शोभनत्वकथनेन गुणविशेष उक्तः। किञ्च, गम्भीरमानसा इति गम्भीरं मानसं येषां, भगवद्धर्मज्ञानेनान्यथाभावनाविपरीतभावनादिना कलुषितं न भवति इति भावः। पूर्वेषु गम्भीरत्वसूदत्वादिगुणाभावात्सामान्यत्वमुक्तम्। तत्र विशिष्टधर्मत्वात्ततो विशेष उक्तः, तथा दार्ष्टान्तिकेपि सन्देहवारकत्वविशेषः। परन्तु ज्ञानस्यैव विशेषो न क्रियाया इति दृष्टान्तेन सूचितं भवति। अतः परं पूर्वतो विशिष्टमष्टमं भावम् आहुः। **सरःकमलसम्पूर्णा** इति। पूर्वं तु शास्त्रज्ञानेन पूर्णा उक्ताः, गम्भीरमानसत्वकथनेन ज्ञानस्थैर्यमप्युक्तम्। एते तु बुधाः ज्ञानिनः पुनः प्रेमयुक्ता भक्तियुक्ता इति सरःसम्बन्धिन्यः कमलैश्च सम्पूर्णाः आच्छादिताः तादृश आपस्तद्रूपाः। सरस्तु विहितं भवति। तत्र कमलं भक्तिरूपं, तेन पूर्णा आपः रसरूपाः। तत्तुल्यत्वकथनेन विहितभक्तिसहितप्रेमयुक्ताः ज्ञानेन च वासितास्तादृशास्त

इति सूचितम्। तेनात्र क्रियापि सूचिता। रसस्य विहितसरःसम्बन्धित्वेन विहितभक्त्यनुसार्येव प्रेमापि तेष्विति सूचितम्। एवमेते त्रयोपि क्रमत उत्तरोत्तरविशिष्टधर्मसहिताः सामान्यतो विहितभक्तिमार्गीया उक्ताः।।६।।

अतः परमेतेष्वप्यवान्तरभेदान्निरूपयन्तो नवमं भावम् आहुः-

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः।

कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतभक्तयः।।७।।

पूर्वोक्तेषु सरोदृष्टान्तीयेषु केचनाल्पं श्रुतमध्ययनं येषामेतादृशाः, परन्तु भगवद्गुणेषु प्रेमयुक्ताः, ते वेशन्ताः अल्पसरोरूपाः परिकीर्तिताः। प्रेमयुक्तत्वेपि विहितत्वेन प्रवृत्तत्वात् सम्पूर्णभगवद्धर्मज्ञानं विना भक्तिर्दृढा न भवतीत्यल्पसरोदृष्टान्त उक्तः। यथाल्पसरोनष्टमपि भवेत्तथैतेषां भावा अपि इति भावः। एतेन पूर्वापेक्षया हीनभावत्वमुक्तम्। एतदेवोक्तं तत्त्वार्थदीपे ''शास्त्रज्ञानाभावेपि प्रेम्णा भजते स मध्यम'' इति। एवं सर्वम् इति अत्र। अतोपि हीनत्वेन दशमं भावम् आहुः **कर्मशुद्धा** इति। कर्मणैव शुद्धाः निःकामकर्मादिना चित्तशुद्धियुक्ताः, नतूत्पन्नज्ञानभक्त्यादयः, ते तु पल्वलतुल्याः। यद्यपि वेशन्तपल्वलयोर्न भेदस्तथापि वेदे यथेन्द्रमहेन्द्रयोर्भेदः स्वीकृतस्तथा वेशन्तपल्वलयोरपि ''वेशन्तीभ्यः स्वाहा पल्वल्याभ्यः स्वाहे''त्यत्र भेदनिर्देशः कृत इति तथात्वेन दृष्टान्तः। परं तत्रैतावान् विशेषः। पल्वलमपि द्विविधम्। एकं कमलादिरहितम्, अपरं तत्सहितम्, पूर्वोक्तेषु भक्तित्वा(सत्त्वा)त् कमलसहितवेशन्तदृष्टान्त उक्तः, कर्मशुद्धेषु विहितैकनिष्ठेषु तद्रहितदृष्टान्त इति, यथा पल्वलं स्वल्पं सर्वदा स्थिरजलं न तिष्ठति, वर्षाकाले पुनः पूर्णं भवति, तदपि स्वरूपतः स्वल्पं, तथा कर्मपूर्तौ पूर्णता, तस्य क्षये शुष्कतेति जन्ममरणादिसहिता निरूपिताः। पूर्वोक्तेषु कमलादिसहितवेशन्तदृष्टान्तेन भक्तिमत्वेन जन्ममरणाद्यभावोपि सम्भवति। यथा कमलादिसम्पत्तिशोभादर्शनादिना कदाचित्तस्य महत्त्वं रक्षां च कश्चित्कारयति तथेत्यर्थः। एतेषु तदभावान्न तथेति भावः। कदाचिज्जन्मान्तरे तादृशो ज्ञानी भवति इति निबन्धे निरूपितम्। किञ्च, यथा एतादृशाः प्रोक्तास्तथा वेशन्तदृष्टान्तीयानां पूर्वमल्पश्रुतत्वं प्रेमयुक्तत्वं च निरूपितम्। ते पुनरल्पश्रुतभक्तयो भवन्ति, तदा पल्वलतुल्या एवेति भावः। श्रुतं तु पूर्वमप्यल्पमेव केवलं प्रेमयुक्तत्वेन कमलसहितवेशन्तदृष्टान्त उक्तः। तदभावात्पल्वलतुल्यत्वं युक्तमेव।।७।।

एवं कर्ममार्गीयानां स्वरूपमुक्त्वा योगादिभावानां स्वरूपं निरूपयन्तः एकादशं भावम् आहुः-

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः।

तपोज्ञानदिभावेन स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः।।८।।

योगो अष्टाङ्गः। तत्र ध्यानादिः कल्पितमूर्तेस्तेन संयुक्ता ये गुणास्ते वर्ष्याः वर्षासम्बन्धिजलतुल्या इति अर्थः। वर्षा यथा शून्यावलम्बिन्यः, न स्वरूपावलम्बिन्यस्तत्रापि फलस्याल्पत्वात् ता अपि प्रथमोद्भूता विरलाः पतनमात्रेण शुष्का भवन्ति, न तु क्वचिदार्द्रतां सम्पादयन्ति, तथा तादशा अपि न भक्तिफलाधिकारिणः। किन्तु तत्साधनानुसारिफलाधिकारिण इति भावः। अतः परं द्वादशं भावम् आहुः। तपोज्ञानात् इति। केचन तप एव परं मत्वा कुर्वन्ति, केचन ज्ञानमेव केवलं परं मन्यन्त इति तेषां स्वरूपम् आहुः-तपः पञ्चाग्निसाधनादीनि, ज्ञानं केवलं, तत्र प्रवृत्तानां भावाः स्वेदजा स्वेदजलतुल्याः कथिता इति अर्थः। यथा श्रमेण स्वेदजलं स्रवति। ऊष्मणा वा। अपवित्रमप्रयोजनकं च भवति, तथैवेते भावाः श्रमसाधकाः, न तूत्कृष्टफलदाः। अग्रेपि तापकारकाः संसारकरणात् इति भावः। अत एव ''रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा। न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोभिषेकम्'' इति उक्तम्।।८।।

अन्ये केचन वेदमाहात्म्यज्ञानैकनिष्ठास्तेषां स्वरूपं कथयन्तस्त्रयोदशं भावम् आहुः-

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः।

कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः।।९।।

अलौकिकेन ज्ञानेन वेदोक्तार्षज्ञानेनेत्यर्थः। ब्राह्मणानां वेद एव परस्तदभ्यास एव तेषां धर्म इति तत्पाठकरणरूपा ये गुणाः प्रोक्ताः तेपि कादाचित्काः, न सर्वदा स्थिराः, तेपि शब्देनैव गम्याः, शब्द एव गम्यो येषां नत्वर्थ इति वा, तादृशास्ते पतन्तः उच्चतः पतन्तो ये जलौघास्तेषां शब्दा इव। अथवा दूरात् कर्णे पतन्तः शब्दा इव प्रकीर्तिताः। यथा ते निरर्थकाः, दूरात् पतनजशब्देनैव ज्ञायन्ते, न तु ते प्राप्तुं शक्यन्ते, तथा वेदपाठका एव, न तु ते वेदार्थं जानन्ति, न मुख्यफलं प्राप्नुवन्ति इति भावः। आपाततो ज्ञानेपि कादाचित्कत्वेन न मुख्यफलम् इति भावः।।९।।

ननु तेपि देवाद्युपासनां कुर्वन्ति, वेदार्थाज्ञाने तु साङ्गोपासना न भवेदित्याशङ्कानिरासाय चतुर्दशं भावम् आहुः।

देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेरिवोद्गताः।

साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः।।१०।।

प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः।

यद्यपि केचन देवादीनामुपासनां कुर्वन्ति। न ह्येतावानेव वेदार्थ इति तावन्मात्रज्ञानेन क्रियमाणा सा न परमफलदायिनि इति तादृशा गुणा भावाः भूमेरूद्गताः पृष्वा जलबिन्दवो बुद्बुदास्तद्रुपाः। यथा ते यत्रैवोत्पन्नास्तत्रैव लीना भवन्ति, तथा यस्य देवस्योपासना तत्रैव पर्यवस्यन्ति, न तु ब्रह्मपर्यवसाना इति अर्थः। अतः परं वैष्णवधर्मनिष्ठस्य भावान्निरूपयितुं पञ्चदशं भावम् आहुः **साधनात्** इति। देशाधिसाधनेषु भूतशुद्ध्यादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः श्रवणकीर्तनादिद्वारा प्रेमपूर्त्या स्फुरन्तो धर्माः अश्रुपुलकादिरूपा येषां तादृशाः स्यन्दमाना भूमितः प्रस्रवणशीला आपस्ताद्रूपाः। पूर्वापेक्षया प्रस्रवणशीलत्वात्। किञ्चिदुपकारकत्वं सूच्यते। तेनोपासनायामपि तान्त्रिकरीत्या विष्णूपासना ज्ञेया। परन्तु वृद्धिक्षयसहिताः, श्रवणस्याल्पत्वाद्विभूतिपर्यवसानत्वाच्च ततोप्यागमनगमनादिकं सम्भवति इति सूचितम्। एतेन सकामतापि सूचिता।।१० १/२।।

एते तु वृद्धिक्षयसहिताः, ते एव पुनर्वृद्धिक्षयरहिता भवन्ति, तेषां भावम् आहुः षोडशम्।

यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः।।११।।

स्थावरस्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः।

यादृशाः पूर्वं प्रोक्तास्तादृशा वृद्धिक्षयविवर्जिताश्चेत्तदा स्थावराः स्थिरजलतुल्याः स्थिरजलाशयाः स्थिरप्रवाहा नदीरूपा वा, तत्सदृशाः। स्थिरत्वस्वरूपम् आहुः। **मर्यादैकप्रतिष्ठिता** इति। यावत्प्रमाणमर्यादया विहितास्तावन्मर्यादया सर्वदा स्थिराः। अत एव तावति धर्मे वृद्धिक्षयरहितत्वमुक्तम्। तेन निरन्तरपूजाप्रवाहसहिताः स्वमर्यादाधर्मयुक्तास्तादृशा भक्ताः जन्ममरणादिरहिता मोक्षपर्यवसायिनः स्वमर्यादेति ज्ञापितम्। यथा तादृश्यो नद्योपि परम्परया नद्यन्तरसङ्गेन समुद्रगामिन्यस्तथेति भावः। जलाशयपक्षे वृद्धिक्षयराहित्यमेव जन्ममरणाभाव इति तथात्वम्।।११ १/२।।

अथ भक्तिमार्गीयभेदान् वक्तुं सप्तदशं भावम् आहुः।

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा।।१२।।

सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि।

निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः।।१३।।

प्रथमजन्मारभ्यानेकजन्मसाधनैः सम्यक् सिद्धिं प्राप्ताः। सर्वदा इति साधननैरन्तर्यमुक्तम्। तेन ''जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभि''रित्युक्तसाधनसिद्धाः प्रावाहिकभक्तिमन्तो भक्ताः सामान्यतः प्रोक्ताः। ते प्रथमं साधनदशायां सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुक्ता भवन्ति, परन्तु

निरन्तरमुद्गम उदयस्तेन युता भगवद्धर्मप्रयत्नवन्तः सङ्गदोषेण क्षयेपि तद्धर्मनिष्ठां न त्यजन्ति। तादृशा नद्यः नदीरूपा नदीजलतुल्या इति अर्थः। यथा नद्यः वर्षाजलेन वर्धन्ते, ग्रीष्मसङ्गेन क्षीणा भवन्ति, परन्तु मूलतः प्रवाहस्य निरन्तरमुद्गमस्तिष्ठति, तेन परम्परया समुद्रगामिन्यो भवन्ति, तथा तादृशाभावा अपि सत्सङ्गेन वर्धन्ते, असत्सङ्गेन क्षीयन्ते, तथापि निरन्तरं भगवद्धर्मनिष्ठात्यागाभावात् कदाचिद्भगवत्समुद्रगामिनो भविष्यन्ति इति भावः। पूर्वोक्तापेक्षया हीनाधिकार उक्तः।।१३।।

अतः परं च शिष्टान् निरूपयन्तोष्टादशं भावम् आहुः-

एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत्सिन्धवः परिकीर्तिताः।

पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः।।१४।।

जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः।

एतादृशा पूर्वोक्तधर्मवन्तः प्रवाहमार्गीयाः स्वतन्त्राश्चेत् न केनचिद्वृद्धिं क्षयं वा प्राप्नुवन्ति, ते समुद्रपर्यन्तं समुद्रगप्रवहणशीलाः सिन्धवः महानद्यो नदा वा तद्रुपा ज्ञेयाः। यथा तादृश्यो नद्यः स्वयमप्रतिबद्धाः सत्यः समुद्रं प्रविशन्ति, तथा तादृशा भक्ता अपि स्वमार्गानुसारेण भगवन्तं प्राप्स्यन्ति इति भावः। अतः परं केवलं भगवद्धर्मैकपूर्णान् निरूपयन्त एकोनविंशं भावम् आहुः पूर्णा इति। एते सर्वे भगवदीयाः भगवद्धमैकनिष्ठाः ज्ञातारो वक्तारश्च सर्वदा तदेकरसपूर्णाः, न तु कदाचिदपि न्यूनभावयुताः शेषादयः। तत्र शेषो गुणगानपरः सर्वदा भगवद्धर्मवक्ता। व्यासः सकलपुराणकर्ता, तद्द्वारा समस्तधर्मवक्ता। अग्निः स्वयमेव। अयं भावः। श्रीमदाचार्यस्वरूपे अंशद्वयमस्ति, मर्यादामार्गोपदेष्टृत्वं पुष्टिमार्गोपदेष्टृत्वं च। तेन स्वरूपमपि द्विविधम्। एवं सति मर्यादामार्गीयान् प्रति तादृग्रूपस्यैव प्राकट्यं भवति, न त्वलौकिकस्य वल्लभाष्टकसर्वोत्तमाद्युक्तस्येति तादृशस्य तन्मध्यपातित्वेन गणना कृता, अत एव ''व्यासोस्माकं गुरु''रित्युक्तम्। अन्यथा पुष्टिमार्गगुरवस्तु स्वामिन्य इति तद्भावात्मकभगवन्मुखारविन्दाधिष्टात्रलौकिकाग्निरूपस्य स्वस्य व्यासगुरुत्वं न सम्भति इति न तथोक्तं स्यात्। एवं सति शेषादिमध्यपातित्वेन भगद्गुणनिरूपणसाम्याद्युक्तैव गणनेति सर्वमनवद्यम्। केचित्त्वग्निः रुद्राग्निरिति वदन्ति। रुद्रस्य भक्तत्वात्। मारुतो हनूमान् परमभक्तः। जडो जडभरतः। नारदः पञ्चरात्रागमप्रवर्तकः। मैत्रो मैत्रेयो धर्मवक्ता। एते सर्वे मर्यादामार्गीया भक्ता गुणज्ञाः, न तु स्वरूपनिष्ठैकभावा इति समुद्ररूपाः प्रकीर्तिताः। समुद्रो यथा स्वमर्यादायामेव तिष्ठति, तथैतेपीति भावः। अत्र समुद्रोपि शुद्धोदो ज्ञेयः। अन्यानग्रे वक्ष्यन्ति इति। किञ्च, एतेषु सामान्यतः समुद्रदृष्टान्त उक्तो, न तु कश्चन

गुणदोषविशिष्टो धर्मस्तस्योक्त इति प्रवाहमार्गादिभिन्नत्वं पूर्णत्वागाधत्वादयो धर्माश्च सूचिताः। यथा समुद्रमध्ये रत्नानि सारभूतानि, तथैतेषां हृदयेषु भगवद्धर्मा इति भावः।।१४ १/२।।

अतः परं समुद्रा अप्यनेकविधा इति तद्भेदान्निरूपयन्तो विंशं भावम् आहुः।

लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान्।।१५।।

वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः।

अयं भावः एके भगवतो गुणा लोकसमाना एव, लोको यथा प्राकृतस्तथा भगवद्गुणा अपि प्राकृता एव, भगवानपि नास्ति, कर्मणैव, सर्वं भवति इति मन्यन्ते, ते क्षारोदतुल्याः, न काचन तैः पुरुषार्थसिद्धिरिति भावः। केचन वेदानुसारेण धर्मान् मन्यन्ते, ज्ञानेच्छादयो जगत्कर्तृत्वादयो धर्मा भगवति सन्ति इति तादृशा दधिमण्डोदतुल्याः। उभयाशसत्त्वात्तत्तुल्यता। तेपि तावन्मात्रधर्मानेव मन्यन्ते, न तु स्वरूपमवतारादिकं चेति तादृशा भावा न पुरुषार्थसाधका इति भावः। अपरे गुणैः प्रकृतिगुणैरविद्याधर्मैः कृत्वा धर्मा भासन्ते, वस्तुतो धर्मा एव न सन्ति इति मन्यन्ते, ते सुरोदतुल्याः, स्पर्शमात्रेपि धर्मनाशका मिथ्यावादिन पुरुषार्थनाशका इति सर्वथा त्याज्या एवेत्यर्थः। एते त्रयोप्यमिश्राः। अथ मिश्रानाहुः। केचित्तु ये धर्मा लौकिकभावसहितास्ते लौकिका एव, ये ब्रह्मधर्मास्तेऽलौकिकाः सर्वे सन्ति इति मन्यन्ते, ते मिश्राः क्षीरोदतुल्याः। स यथा स्वरूपतो ह्युत्तमस्तथापि मथनानन्तरं निःसारो जातः, सकलरत्नानां निर्गमात्, तथा तेषां तावन्मात्रधर्मवत्त्वेपि परमपुरुषार्थो न सिध्यति इति, न ते ग्राह्या इति भावः। यतो भगवतो ''लोकवल्लीलापि कैवल्यम्'' इति उक्तत्वात् तत्रालौकिकबुद्धिनिष्ठाभावात् न सत्सम्मता इति अर्थः। अन्ये वेदोक्तधर्मा जगत्कर्तृत्वादयो यद्यपि सन्ति, तथापि न वास्तवाः अविद्यासंवलिताः, ब्रह्म तु निर्विकारमेवेति मन्यन्ते, ते घृतोदतुल्याः, घृतं विकृतं भवति, क्षीरपरिणामो दधि तत्परिमाणो घृतमतस्तेपि विकृतत्वाङ्गीकारान्न ग्राह्याः, पुरुषार्थासाधकत्वात्। एके पुनर्भगवति धर्माः सन्ति, परं त्ववतारादिधर्मास्तु प्राकृता इति मन्यन्ते, ते इक्षुरसोदतुल्याः, यथेक्षुरसः स्वरूपतो मधुरः परन्तु परिणामविरसस्तथैते धर्मा अपि परिणामे विरसत्वाङ्गीकारान्न पुरुषार्थसाधका इति भावः। पूर्वापेक्षया षण्णामेतेषां हीनभावत्वमुक्तम्। एवं विंशतिधा जीवाधिकारानुसारिणो भाव निरूपिताः। साधनसाध्या लोकवेदप्रसिद्धा इति।।१५ १/२।।

अतः परं लोकवेदातीतः साधनासाध्यो भगवद्दानेनैवोत्पद्यते, नान्यथेत्येतादृशोपि कश्चन भावो वर्तत इति स्वकीयानां ज्ञापनार्थं कृपया तादृशभावस्य यथार्थस्वरूपं

वदन्त एकविंशमपि भावं लक्षयन्ति।

गुणातीततया शुद्धान्सच्चिदानन्दरूपिणः।।१६।।

सर्वानेव गुणान्विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः।

तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम्।।१७।।

ये पुनर्विष्णोर्व्यापकस्य रसात्मकस्य च भगवतः सर्वे गुणाः, लोकानुसारिणो बालचरित्रादयो, वेदानुसारिणो माहात्म्यप्रतिपादकाः ब्रह्मधर्माः गुणानुसारिणः स्थित्युद्भवप्रलयरूपाः, रसात्मकलीलारूपाश्च, गुणातीता एव शुद्धा दोषरहिता निर्विकाराः सच्चिदानन्दरूपिणः सन्ति इति मन्यन्ते, ते भक्ता अमृतोदतुल्याः यथा अमृतस्य षड्रसात्मत्वेपि मधुरत्वमेवैवं भगवद्धर्माणामपि तत्तद्रूपत्वेपि सच्चिदानन्दरूपत्वमेव, न त्वन्यथा। यथा स्वरूपमानन्दरूपं रसात्मकम्, तथा गुणा अपि इति निरूपितम्। किञ्च, समुद्रस्यामृतरूपत्वेनान्येभ्यो विशेष आधिक्यं दूरत्वमगाधत्वं मरणादिदोषनिवर्तकत्वं देवोत्तमैरेव भोग्यत्वं चोक्तं यथा, तथैते धर्मा अप्येतावद्धर्मवन्त एतदधिकारिभिरेव भोग्या इति सूचितम्। अत एवाधिकारिविशेषणं विचक्षणा इति उक्तं। तथा चोक्तं ''मुहरहो रसिका भुवि भावुकाः'' इति। अत एव रसिकजनानुभवैकवेद्यत्वादेते भावाः सर्वोत्तमाः। तादृग्भाववन्तो भक्ता अपि सर्वोत्तमा इति सर्वोत्तमाद्युक्तस्वरूपाग्नेः कथनमेतेषु युक्तम्, न तु पूर्वोक्तेषु शेषादिषु, सर्वसाधारणत्वात्। अतस्तत्राग्निशब्दस्य तथा निरूपणं कृतम्। यद्यग्निशब्दस्य कश्चनान्योप्यर्थो भवेत्तदा स एवोत्तमः, नास्माकं तत्राग्रहः। यथा विरोधो न भवेत्तथा ग्रन्थार्थो व्याख्येय इति भावः। एवं स्वतन्त्रभक्तिभावस्वरूपनिर्देशमपि कृत्वा तस्य दुर्लभत्वम् आहुः **तद्वाक्पानं सुदुर्लभम्** इति। अत एव ''भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभे''त्युक्तत्वादत्रापि ते भावा नोच्यन्ते इति भावः। अत एव शुद्ध प्रेम्णातिदुर्लभा'' इत्यप्युक्तम्।।१७।।

एवं दुर्लभत्वे को हेतुस्तत्राहुः।

तादृशानां क्वचिद्वाक्यं दूतानामिव वर्णितम्।

अजामिलाकर्णनवद्बिन्दुपानं प्रकीर्तितम्।।१८।।

तादृशानां वाक्यं क्वचिदेव भवति। उत्तमाधिकारिसंयोगे भवति, यथा शुकपरीक्षितयोः। यथा वा 'अक्षण्वताम्' इत्यादि। यथा वा भ्रमरगीते उद्धवं प्रति श्रीस्वामिनीवाक्यानि। पुनस्तत्तत्स्वरूपज्ञानेनोद्धववाक्यानि। तादृशं वाक्यं दूतानामिव वर्णितं भवति। दतास्तु यथार्थवक्तारो यथानुभूतं कथयन्ति, तथा तेषां वाक्यं

स्वानुभूतत्वेन तथार्थम् इति प्रमाणम् इति अर्थः। ननु तादृशवाक्यस्यादिदुर्लभत्वेनाशक्योपदेशकथनं व्यर्थमित्याशङ्क्य तत्राहुः अजामिला इति। यथा **अजामिले** सर्वथानधिकारिण्यपि परमकृपया स्वनाममाहात्म्यं प्रकटितवान् प्रभुः, तथा तादृशे निःसाधनेपि कृपया परमानुग्रहेण तादृग् वाक्यं कदाचित्प्रकटीकरोति। अत एव क्वचिद्वाक्यं भवति इति उक्तम्। अत एव तद्वाक्यममृतरूपबिन्दुपानं प्रकीर्तितम्। यथामृतस्य बिन्दुपानेप्यमरत्वं सिध्यति, तथा तावन्मात्रवाक्यश्रवणेपि तादृग्रूपत्वं समस्तभगवन्माहात्म्यस्वरूपज्ञानं च भवति इति भावः।।१८।।

ननु माहात्म्यज्ञाने जातेप्यविद्याधर्माणां विद्यमानत्वात्कथं परमफलं सेत्स्यति इति तत्राहुः।

रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा।

तदालेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम्।।१९।।

तद्बिन्दुपानमात्रक्षणे स्त्रीपुत्रादिषु यो रागः स्नेहः अज्ञानं भगवत्स्वरूपधर्मयोः, आदिपदेनासम्भावनाविपरीतभावनादीनां च सर्वथा नाशनं नाशकारकं तद्वाक्यं भवति, एतद्यदा भवेत्तदालेहनं भगवत्स्वरूपनिष्ठभावैस्तदास्वादनं जायते, तेन प्रतिबन्धनिवृत्तिः सूचिता। इष्टप्राप्तिम् आहुः **स्वानन्दोद्गमकारणम्** इति। तदास्वादे पूर्वं तिरोहितानन्दस्य प्राकट्यम्, पश्चात् प्रेमासक्तिसङ्कल्पव्यसनोत्पादनेनान्त र्भगवत्स्वरूपानन्दाविर्भावो भवति इति भावः।।१९।।

ननु पूर्वोक्ता शेषादयः पूर्णा उक्ताः, तथाप्येतदपेक्षया न्यूनत्वात्तेषां धर्माणां कथं पूर्णत्वं फलसाधकत्वं च तत्राहुः।

उद्धृतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्तथा।

उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः।।२०।।

उक्तातिरिक्ता अमृतोदतुल्यातिरिक्ताः शेषादयः तेषां वाक्यानि उद्धृतोदकवत्, यथा गङ्गात उद्धृत्य गृहे समानीतं जलमपि गङ्गाजलमेव, तथापि मर्यादामार्गविधिना स्नानपूजादिफलं प्रवाहस्थजल एव भवेन्नास्मिन्, तथा तेषां धर्माणामपि भगवद्धर्मरूपत्वं पूर्णत्वादिकं च तिष्ठत्येव, परन्तु पुष्टिफलप्रापकत्वं नेति भावः पुष्टिफलं तु तादृग् बिन्दुपान जनितरसास्वादेनैव भवेन्नान्यथेति सूचितम्। एवं सति मर्यादामार्गीयभक्तिरसपूर्णत्वं पुरुषोत्तमसायुज्यफलकत्वं तेषां सम्पन्नम् इति ज्ञापितम्। किञ्च, एतत्पोषकत्वेन द्वितीयं दृष्टान्तम् आहुः **पतितोदकवत्** इति। यथा वर्षाजलमाकाशात् पतितं यद्यपि शुद्धं निर्मलं, तथापि मध्ये गृहीतं चेत् कर्मदियोग्यं न भवति, भूमौ पतितं चेत्कर्मादियोग्यं भवति, तथा तानि वाक्यानि शुद्धानि

निर्मलानि, तथाप्येतादृशभक्तिरसभावाशयसंवलितत्वाभावादेतत्फलरूपस्वरूपसम्बन्ध कारकाणि न भवन्ति इति भावः। एतदेवोक्तं **फलं चापि तथा तत** इति। यादृशो मार्गः यादृशं वाक्यं तादृशमेव फलं भवेदिति भावः। अथवा पूर्वं स्वतन्त्रतया प्रमेयबलमाश्रित्योक्तम्, अधुना शास्त्रक्रमानुसारेणोच्यते। तथाहि, उक्तातिरिक्ता अमृतोदतुल्यातिरिक्ताः। शेषादयस्तेषां वाक्यानि उद्धृतोदकवदुपकारं कुर्वन्ति। यथा जलाशयादुद्धृतं गृहे समानीतं जलं गृहादिशोधकत्वेन स्नानाचमनादिनात्मशोधकत्वेन पाकादिकर्मकारकत्वेन तृषादिनिवर्तकत्वेन चोपकारकं भवति, तथा तेषां वाक्यानि, वाक्योक्तधर्माचरणादिना अविद्यौपाधिककर्मनाशकत्वेन ज्ञानादिधर्मोत्पादकत्वेन सांसारिकतापनिवर्तकत्वेन मुक्तिफलकत्वेन च प्रतिक्षणमुपकुर्वन्ति इति भावः। तादृशस्थितौ विशेषानुग्रहश्चेत्तदा पुष्टौ प्रवेशः, नो चेत्तदुपकार एवेत्यर्थः। एतदेवोक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्यां ''उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति इति। अत एव पुष्टिमार्गाधिकारो मुक्तानामेवेति 'मुक्तोपसृप्य' इत्याद्युक्तम्। किञ्च, एतत्पोषकत्वेन द्वितीयं दृष्टान्तम् आहुः **पतितोदकवत्** इति। वर्षाजलं पतितमुपकरोति, परन्तु मर्यादया पतितं चेत्। नो चेत्सर्वसस्यादिनाशकं भवेत्। एवं मर्यादया धर्माचरणे फलं भवेत्, नो चेदौद्धत्येन सर्वधर्मनाशो भवेदिति तेषां वाक्यानामुपकारकत्वं पूर्णत्वं फलसाधकत्वं चोक्तम्। अत एव **फलं चापि तथा तत** इति उक्तं। ततस्तादृशवाक्यात् फलं च तथा तदनुसार्येव सायुज्यं भवेदिति भावः।।२०।।

अतः परमुपसंहरन्ति।

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि।

रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः।।२१।।

इति। प्रकारका जीवेन्द्रियगताः, जीवगता आत्मगामिनः, इन्द्रियगता विषयगामिनः। अत एव भुवि स्वाधारे नानाभावं गतास्तादृशा विष्णोः व्यापकस्य रसात्मकस्य च गुणाः भावा रूपतः स्वरूपतः फलतश्च निरूपिताः। एतेन सन्देहनिवृत्तिपूर्वकं भगवन्मार्गप्रवृत्तौ फलं भविष्यति इति ज्ञापितम्।।२१।।

यथामति मया भावा रूपतः फलतोपि हि।
निरूपितास्तत्र किञ्चिद् बुद्धिदोषेण यद्भवेत्।
अन्यथा तत्सकरुणा क्षमन्तां प्रभवो मम।।१।।

इति श्रीवल्लभकृतं श्रीजलभेदविवरणं सम्पूर्णम्।

श्रीकृष्णाय नमः।

जलभेदः।

श्रीबालकृष्णकृतविवृतिसमेतः।

श्रीराधिकावदनपद्ममरन्दपानधूर्णायमाननयनः [१]स्फुटलाञ्छनश्रीः।
मन्दस्मितो रतिविलासजयोदिताङ्गकान्तिः सदा स्फुरतु मद्धृदि गोपिकेशः।।१।।

भावाब्दिमथनाचार्यचरणान् नौमि संततम्।
गोपीशभावभावाप्तिर्यत्कृपातो न दुर्लभा।।२।।

श्रीमदाचार्यचरणाः स्वीयानां भावज्ञानेन पूर्णप्रेमभावोत्पत्त्यर्थं भावनिरूपणं प्रतिजानते। यथा निर्विघ्नतासिद्ध्यर्थं मङ्गलाचरणस्य शिष्टाचारत्वं, तथात्र स्वीयेषु निर्विघ्नभावोत्पत्तिसिद्ध्यर्थं भगवन्नमस्करणात्मकं मङ्गलमाचरन्ति नमस्कृत्य इति।

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान्।
भावान् विंशतिधा भिन्नान् सर्वसन्देहवारकान्।।१।।

हरिमकारणसर्वदुःखहर्तारं नमस्कृत्य **तद्गुणानां** तदीयभक्तगुणानां **विभेदकान्** विशेषेण भेदबोधकान् **भावान् वक्ष्ये** इति सम्बन्धः। विंशतिप्रकारेण **भिन्नान्** तान् वक्ष्य इति अर्थः। ननु एतत्कथनं किंप्रयोजनकम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **सर्वसन्देहवारकान्** इति। यच्छ्रवणात् सर्वेषां सन्देहाभावः स्यात् इति अर्थः। यद्वा, सर्वे भगवति प्राप्तिसन्देहवारका इति भावः।।१।।

एवं प्रतिज्ञाय भेदानेवाहुः गुणभेदा इति।

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः।
गायकाः कूपसङ्काशा गन्धर्वा इति विश्रुताः।।२।।

यावन्तो जले भेदा वेदोक्तास्तावन्तो गुणभेदा ज्ञातव्या इति अर्थः। अत्र ''कूप्याभ्यः स्वाहे''त्यारभ्य ''सर्वाभ्यः स्वाहे''त्यन्ता श्रुतिरनुसन्धेया। गुणानां जलसाम्योक्त्या स्वतः शुद्धत्वं बोध्यते। ''आपः स्वभावतो मेध्या'' इत्यादिवाक्येभ्यो जलानां स्वतःशुद्धत्वं, तथैव भगवत्सम्बन्धित्वाद्गुणानाम् इति भावः। यथा जलमन्यमेलने तदात्मकतां भजते, तत्र च स्वस्वरूपात्मकतां च करोति, तथा भगवानपि भक्तभावमेलने स्वगुणान् तद्भावसाम्यान् करोति, तं च स्वीयं स्वसमं करोति।

ननु भक्तस्य प्रभुसाम्यता कथम् इति चेदुच्यते। तदसाम्यत्वे भक्तत्वमेव न स्यात्। अत एवोक्तं ''देवो भूत्वा देवान् यजेत्'' ''यो यच्छ्रद्धः स एव सः'' इत्यादि च। तस्माद्भक्तत्वेपि

१.स्फुटालङ्कृतश्रीरिति मूले पाठः।

न हानिर्यतो तद्भजनस्यैव स धर्मो, न त्वन्यधर्म इति त्वदुक्ताशङ्कागन्धलेशोपि नेत्यलम्। तत्र प्रथमं भगवतो रसरूपत्वाद्रमणैकस्वभावत्वात् तत्र च गानमुख्यता श्रुत्योच्यते ''यदा खलु वै पुरुषो श्रियमश्नुते तदा वीणास्मै वाद्यते'' इत्यादि। तस्माद्गानप्रियो भगवान् इति गायकानां भावम् आहुः **गायका** इति। **विश्रुताः** प्रसिद्धाः गानरसज्ञा ये गायकास्ते कूपसङ्काशास्तेषां भावः कूपजलतुल्य इति अर्थः। यथा कूपोदकं शीतकाले अन्तरुष्णं, धर्मकाले बाह्यतः शीतं, तथैतेषामपि भावोपि श्रवणानन्दत्वेनोपरि शीतलस्तदनन्तरं रसबोधे भगवत्प्राप्त्यर्थं मनस्तापकः। तथा सति अतिप्रचुरबाह्यतापे सति भगवच्छ्रवणसुखदत्वेनान्तःशीतल इति भावः। ननु एतेषां भगवद्गुणसम्बन्धत्वेन गानाभावात् कथं भगवद्भाव इति चेत? उच्यते। भगवत्स्वरूपस्य नादब्रह्मात्मकत्वाद्यथास्थितनादस्वरूपज्ञाने भगवत्प्राप्तिरिति भावः। अत एव सङ्गीतशास्त्रे निरूपितं ''वीणावादतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः। तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं लभेत हि'' इति। यथा कौपं जलं गुणेनैव ग्राह्यं, तथैतेषां भावो भगवत्त्वगुणत्वेनैव गृह्यत इति भावः।।२।।

ननु गायकानामनेकभेदवत्त्वात् कथं सर्वेषां तुल्यतेत्याशङ्क्यायाहुः **कूपभेदास्तु** इति।

कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि सम्मताः।
कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारम्पर्ययुता भुवि।।३।।

यावन्तः कूपभेदाः सन्ति तावन्त एव गायकभेदाः सम्मता इति अर्थः। यथा केचित् कूपा मिष्टान्नपरिपाचकत्वे सुरतरुपक्षस्थाः, केचिद्गुरुत्वादन्नपरिपाकारिणः, केचित् क्षाराः शुद्ध्यादिहेतवः, एवमनेकभेदास्तथा तेपि भगवद्गुणनिबन्धार्थज्ञानयुक्ताः, केचिच्च नादब्रह्मात्मकस्वरूपज्ञाः, केचिद्गानमाधुर्यपराः बहुभेदाः सन्ति इति यावन्तस्ते तावन्तस्तेषामपि भेदा ज्ञेयाः इति भावः। प्रथमभावं निरूप्य द्वितीयम् आहुः कुल्याः पौराणिका इति। **पौराणिकाः** पुराणज्ञाः **कुल्याः प्रोक्ताः।** कृत्रिमसरित्तुल्या उक्ता इति अर्थः। यतो भुवि पारम्पर्ययुताः, धरण्यां यथा परम्परया पुराणं श्रुत्वा वर्णयन्ति, न तु स्वतो विचारयन्ति, तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति अर्थः। यथा कृत्रिमा नदी प्रत्यहं खननादियानैरेव प्रवहति, प्रमादादप्यप्रयत्नतो वालुकादिभिः सुनिहता भवति, तथा तेषामपि नित्यं पुराणादिदर्शन एव भावो भवति, नान्यदा। यथा तस्याः पारम्पर्यता भुव्येव तडागादिषु, न तु स्वतः प्रवहन्नदीजलवत् सादित्वं समुद्रगत्वं च, तथैतेषामपि पुराणदर्शनकाल एवोत्पत्तिस्तत्रैव च समाप्तिर्न तु दयासमुद्रभगवद्गामित्वम्।।३।।

तृतीयम् आहुः **क्षेत्रप्रविष्टा** इति।

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः।

वेश्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिकाः।।४।।

ते च पौराणिकाः। गायकनिरूपणानन्तरं पौराणिकनिरूपणेन पुनश्च गायकनिरूपणेन पुराणोक्तभगवल्लीलानिरूपका गायका इवेत्यर्थः। गानस्य यथा चित्तहारकत्वम्, तथा पुराणानामपि इति तन्मध्यनिरूपणम् इति भावः। क्षेत्रप्रविष्टाः स्वकुटुम्बपोषणाजीविकार्थं पुराणनिरूपकाः ये ते संसारोत्पत्तिकुटुम्बपोषण साधनोत्पत्तिहेतवो भवन्ति इति अर्थः। चकारेण भगद्गुणवर्णकानामनुचितः संसारः, तथापि तदर्थमेव कृतत्वात् तथेति भावो बोध्यते। अपि शब्देन संसारोत्पत्तिरपि भगद्गुणविक्रेतुर्न भवेत्, परं भगवन्माहात्म्यवत्येवेति बोध्यते। यथाल्पसरिदपि क्षेत्रे प्रविष्टा सती संसारोत्पत्तिहेतुरन्नाद्युत्पादिका भवति, न तु स्नानपानयोग्या। तथैतेषां भावोपि पुराणदर्शनेन स्वात्मशोधको न भवति, किन्तु जीविकाहेतुरेव भवति इति अर्थः। अत एव पुराणोपजीवका नीचा उक्ताः। ''नीचा पौराणिकाः स्मृता'' इति। चतुर्थं भावम् आहुः **वेश्यादिसहिता** इति। वेश्यादिसहिता मत्ता ये गायकास्ते गर्ततुल्या इति अर्थः। यदि गानस्वरूपज्ञानेन विषयरहिताः स्युस्ते नादं ज्ञात्वा मुक्त्यधिकारिणो भवेयुः, परं मत्तत्वाद्विषयाभिनिविष्टास्तेन तेषां भावो गर्तजलतुल्य इति अर्थः। यथा गृहमध्यकृतगर्तसञ्चितजलस्य तद्गृह एव व्यवहारयोग्यत्वम्, न तु कूपादिवत् सर्वोपयोगित्वं शुद्धिकरत्वं वा; तथैतेषां भावो गानमाधुर्यादिना तद्धृदयानन्दकर एव, न तु पुरुषार्थसाधकोपि, तदर्थमपि नादस्य ब्रह्मात्मकत्वाद्भगवतो गानप्रियत्वात् तद्रसज्ञत्वात्तेष्वपि आनन्दोद्भवो भगवता दीयत इति भावः। मत्तत्वादिदोषरहिताः पूर्वोक्तसहिता गायकाः कूपादितुल्या इति भावः। यथा कूपोदकं गुणैकग्राह्यं भवति, जलग्रहणपर्यन्तमेव गुणकार्यं , न तु तदनन्तरमपि, तथा स्त्रीगानस्य मधुरत्वात् तद्द्वारा नादब्रह्मानन्दानुभवार्थमेतत्साहित्यम् इति भावः।।४।।

पञ्चमं भावम् आहुः **जलार्थमेव गर्तास्तु** इति।

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः।

ह्रदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः।।५।।

तुशब्दः पूर्वगतसाम्यत्वं निराकरोति। प्रक्षालनोच्छिष्टजलनिःसरणार्थं ये गर्ताः तत्तुल्या गानोपजीविन इति अर्थः। यथा गर्तजलं नीचादिस्पर्शयोग्यमेव, न तु शुद्धयादिकरं, तथैतेषां भावोपि इति अर्थः। नीचत्वादेतेषां गानश्रवणमपि भगवद्भक्तैर्न कार्यम् इति भावः, तद्गानस्यानन्दराहित्यादित्यर्थः। षष्ठं भावम् आहुः **ह्रदास्तु**

इति। भगवच्छास्त्रगीतापञ्चरात्रश्रीभागवतादिषु तत्परास्तदेकनिष्ठाः पण्डिताः ह्रदाः प्रोक्तास्तेषां भावो ह्रदजलतुल्य इति अर्थः। तुशब्देन भगवच्छास्त्राभ्यासरतो न त्वन्य इति अर्थो ज्ञाप्यते। यथा ह्रदजलं तरङ्गावर्तादिरहितं अन्तःशीतलं जलक्रीडादियोग्यं भवति, तथैतेषां भावोपि पण्डितत्वात् चाञ्चल्यरहितमनोविवर्तनाद्यनुपहतोभगवच्छास्त्रतत्परत्वात् अनिरूपितभगवत्क्रीडा निरूपणयोग्य इति भावः।।५।।

सप्तमं भावम् आहुः **सन्देहवारका** इति।

सन्देहवारकास्तत्र सदा गंभीरमानसाः।

सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः।।६।।

तत्र भगवच्छास्त्रसन्देहवारकाः सर्वमतनिराकरणपूर्वकभगवन्मार्गस्थापका गम्भीरं **मनो** येषां ते सूदाः सुष्ठु उदकं येषामेतादृशा ह्रदविशेषतुल्याः। तेषां भावस्तद्ध्रदोदतुल्य इति अर्थः। जले शुक्तिशैवालाद्यावरणरहिताः गम्भीरमानसोक्त्या अन्तः कालुष्यान्याश्रयादिदोषरहिता इति भावः। यथा ह्रदजलं गम्भीरत्वे धर्मकालेऽन्तःशीतलं उपरि तप्तञ्च भवति; तथैतेषां भावोप्यन्तर्भगवत्सम्बन्धाच्छीतलो बहिर्लौकिकनिवृत्त्यर्थं सन्तप्त इति भावः। अष्टमं भावम् आहुः **सरःकमलसम्पूर्णा** इति। यथा पूर्वोक्तप्रकारकसन्देहवारकाः बुधाः प्रेमयुक्ताः सन्तः सरःसम्बन्धिकमलपरिपूर्णाः, परन्तु नादगायकतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति अर्थः। यथा तज्जलं सुरभिशीतल्कमलयुक्तत्वात् लक्ष्मीनिवासयुक्तभगवत्सेवोपयोग्यं, तथैतेषां भावोपि। सौरभवत् प्रसररूपः परतः पावनो हृत्कमले व्रजसीमन्तिनीभावस्थितिसहितभगवत्सेवोपभोग्यो भगवच्चरणाब्जमकरन्दपानमत्तमधुपायितचित्रकुन्तलालिश्चेति भावः।।६।।

नवमं भावम् आहुः **अल्पश्रुता** इति।

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः।

कर्मशुद्धा पल्वलानि तथाल्पश्रुतिभक्तयः।।७।।

अल्पं श्रुतमध्ययनं येषां ते प्रेमयुक्ताः सन्तो वेशन्ताः सरस्तद्वत् परिकीर्तिताः। तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति अर्थः। यथा तज्जलं वर्षाशरत्काले निर्मलं धर्मकाले पश्चात्प्रसङ्गाच्च पङ्किलं भवति, तथैतेषां भावोपि भगवत्सेवादिषु प्रेमयुक्तत्वान्निर्मलो भवति, परमल्पाध्ययनत्वात् असकृल्लौकिकतापादिना कालुष्यादिकमाप्नोति इति अर्थः। दशमं भावम् आहुः कर्मशुद्धा इति। कर्मत्वेन ये

भगवत्परिचर्यां कुर्वन्ति ते **कर्मशुद्धाः**, अत एव भगवतोक्तं ''मत्कर्मपरमो भवे''त्यादि। अन्यथा कर्मणा न शुद्धत्वकारणं स्यात्। अत एव ''यस्य स्मृत्या''दि स्मर्यते। तस्मात् सर्वोत्कृष्टत्वयज्ञकर्मात्मकत्वमेव सेवायज्ञत्वात् सेवन्ते, ते कर्मशुद्धास्तेषां भावः पल्वलमल्पसरोविशेषस्तत्तुल्य इति अर्थः। यथाल्पसरोजलं पानयोग्यं भवति, न तु स्नानावगाहनयोग्यं तथैतेषां भावोपि भगवत्पूजाकर्मत्वाद्यत्किञ्चित् फलदो, न तु भगवदवगाहनयोग्य इति भावः। तथैवाल्पश्रुतिभक्त्यः अल्पं श्रुतिः श्रवणं भागवतादिषु भगवन्माहात्म्यस्य, तथा भक्तिर्येषां तेपि तत्तुल्या एवेत्यर्थः। अल्पश्रुत्युत्पन्नभक्तित्वेनादृढत्वात् तथेत्यर्थः।।७।।

एकादशं भावम् आहुः **योगध्यानादिना संयुक्ता** इति।

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः।

तपोज्ञानादिभावेन स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः।।८।।

योगोऽष्टाङ्गः, ध्यानं प्रादेशाङ्गुष्ठमात्रादेः। तत्संयुक्ताः गुणाः भावाः वर्ष्याः तज्जलतुल्याः प्रकीर्तितास्तेषां भावस्तत्तुल्य इति अर्थः। यथा वर्षाकाले जलं सर्वत्र सुलभं परमचिरस्थायि तथैतेषामपि योगादिसमय एव भगवद्भावो न सर्वदेति भावः। द्वादशं भावम् आहुः **तपोज्ञानादिभावेन्** इति। तपः कृच्छ्रादि, ज्ञानं जीवात्मनः। आदिपदेन विद्याविद्याबन्धमोक्षज्ञानं षोडशपदार्थज्ञानं लौकिकैः (कर्म)भिर्यो भावस्तेन संयुक्ताः स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः स्वेदजतुल्याः कथिताः इति अर्थः। तेषां भावः स्वेदजतुल्य इति अर्थः। केचित् तपसैव भगवान् प्राप्यत इति ज्ञात्वा तप एव कुर्वन्ति, केचित् ज्ञानेन जीवात्मज्ञानेन मोक्षो भवति, ''ज्ञानादेव हि कैवल्यम्'' इति ज्ञात्वा ज्ञानार्थमेव यतन्ते। केचित् षोडशपदार्थज्ञानेनैव मोक्ष इति तज्ज्ञानार्थं न्यायादिकं पठन्ति, ते सर्व एवाज्ञाः। यतो भगवत्प्राप्तिस्तु भक्त्यैव, न तैः, अत एव भगवतोक्तं ''नाहं वेदैर्न तपसे'' ''भक्त्या त्वनन्यया शक्य'' इत्यन्तम्। ''रहूगणैतत्तपसे''ति च। तस्मात् तेषां भावस्तत्तुल्य इति अर्थः। यथा स्वेदजं जलं स्नानाद्ययोग्यं, अस्वादु, तापकरम्। तथैतेषां भावोपि नात्मशोधकः, नापि भगवत्प्राप्तिकरः, तापक्लेशादिकर एवेत्यर्थः। जलसाम्यत्वेन हेयार्थश्च वर्णित इति अर्थः।।८।।

त्रयोदशं भावम् आहुः **अलौकिकेन ज्ञानेन** इति।

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः।

कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः।।९।।

अलौकिकेन भगवद्दत्तेन महत्तमचरणरजोभिषेकजेन वा ज्ञानेन हरेरकारणसर्वदुःखहर्तुः कादाचित्काः कदाचिदेव स्वीयानां दर्शनतापनिवृत्त्यर्थं प्रकटीकृताः प्रतीयमाना गुणाः शब्दगम्याः वेदादिगम्याः श्रुतिरूपव्रजवरवधूरूपैकगम्याः ये वर्णयन्ति ते पतच्छब्दाः पर्वतशिखराद्धारापतने ये शब्दाः तत्सदृशाः प्रकीर्तिताः निरूपिताः इति अर्थः। तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति अर्थः। यथा धारजलशब्दाः तत्र जलस्थितिज्ञापकास्तथा तद्वर्णनमपि तद्धृदि भगवत्स्थितिं बोधयतीत्यर्थः। धारा अपि शब्दगम्या भवन्ति, भावा अपि तथैवेत्यर्थः।।९।।

चतुर्दशं भावम् आहुः **देवाद्युपासनोद्भूता** इति।

देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेरिवोद्गताः।

साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः।।१०।।

प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः।

यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः।।११।।

स्थावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः।

देवाः शिवादयः, आदिपदादुमादुर्गाभैरवादयः, तेषां उपासने प्रोद्भूताः तत्र भगवत्त्वेन सर्वेश्वरत्वेन मोक्षसाधकत्वेन ये भावास्ते भूमेः सकाशादुत्पन्नाः तुषारजलकणा इवेत्यर्थः। तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति अर्थः। तेषां तद्भजनेन किञ्चित्फलं, किन्तु भगवतो अन्यथा चिन्तितत्वान्नरकः। अत एव ''योन्यथा सन्तम्'' इति उक्तम्। यथा तज्जलं न स्नानादियोग्यं किन्तु स्वाधारमपि पङ्किलं करोति, तथैतेषां भावोपि न शुद्ध्यादिकमुत्पादयति, मोक्षसाधको वा भवति, परं देवानां भक्तत्वात् स्वाधिसाम्यतया भजंस्तमनुकारयति इति अर्थः। पञ्चदशं भावम् आहुः। **साधनादिप्रकारेणा**ग्निहोत्रनित्यकर्मादिसहितश्रवणादिनवधाभक्तिरूपो मार्गस्तेनैव **प्रेमपूर्त्या** ये **स्फुरद्धर्मास्ते स्यन्दमानास्ते** प्रस्रवणतुल्याः प्रकीर्तिता इति अर्थः। तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति अर्थः। यथा तज्जलं पर्वतादिवृष्टिबाहुल्यात् वर्धते, आतपादिषु च हीयते, तथैतेषां भावोपि **साधनसत्सङ्गैर्वर्धते**, दुःसङ्गादिभिश्च गौणतां प्राप्नोति इति अर्थः। अत एव कपिलदेवैः साधनत्वेन देवहूतिं प्रति सत्सङ्ग उक्तः ''सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्य'' इति। यद्वा नवधाश्रवणादिरूपभक्तिमर्यादामार्गीयसाधनादि प्रकारेण स्फुरद्रूपा धर्माः दानव्रततपोहोमेत्यादिरूपाः येषु तेषां भावः स्यन्दमानजलतुल्य इति अर्थः। यथा तज्जलं वृष्ट्यादिसापेक्षं तथैतेषां भावोपि धर्मसापेक्षः इति भावः। षोडशं भावम्

आहुः **यादृशाः** पूर्वमुक्तास्तादृशाः सङ्गादिना वृद्धिक्षयविवर्जिताः सम्यक् प्रकारेण प्रसिद्धा इति अर्थः। निरूपिता वा। यथा नवधाभक्तिमार्गमर्यादायामेव मुख्यतया **प्रतिष्ठिता**श्चेत् तदा ते **स्थावराः** समाख्याताः सम्यक् प्रकारेण प्रसिद्धा इति अर्थः। निरूपिता वा। यथा तज्जलं नातपादिभिर्ह्रासं प्राप्नोति, न वा वृष्ट्यादिभिर्वर्धितं, न तरङ्गफेनावर्तादिभिः क्षुब्धं भवति तथैतेषां भावोपि दुःसङ्गादिभिर्न क्षीणतां भजति, न वा भक्तसङ्गेन वर्धते, तद्दर्शनेन न क्षुब्धो भवति इति अर्थः।।११ १/२।।

सप्तदशं भावम् आहुः **अनेकजन्मसंसिद्धा** इति।

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा।।१२।।
सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि।
निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः।।१३।।

अनेकजन्मभिः कृत्वा सम्यक्प्रकारेण सत्सङ्गादिभिः भगवत्कृपया वा सिद्धाः साक्षात् सेवायोग्यं जन्म प्राप्तवन्तः **जन्मप्रभृति** आजन्मतो भगवद्भजनतत्पराः सर्वदा सर्वजन्मसु एतादृशाः भगवद्भक्ताः समुद्रगामिनदीतुल्याः परिकीर्तिताः कथिता इति अर्थः। तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति अर्थः। यथा तेषां जलानां वर्षादिजलवृद्धिसापेक्षत्वं, स्वतश्च समुद्रगामित्वं, तथैतेषां भावोपि सापेक्षो भगवद्गामी चेत्यर्थः।।१३।।

अष्टादशं भावम् आहुः **एतादृशा** इति।

एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत्सिन्धवः परिकीर्तिताः।
पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः।।१४।।
जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः।

एतादृशाः पूर्वोक्ताः **स्वतन्त्राः** श्रवणसङ्गाद्यपेक्षारहिता निरुपाधिकाः। स्वतन्त्रा एव भगवद्भजनपराः **सिन्धवः** समुद्रगामिनदीतुल्या इति अर्थः। तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति अर्थः। यथैतज्जलं न वृष्ट्यादिजलसापेक्षं स्वतः समुद्रगामि, तथैतेषां भावोपि नान्यसापेक्षो दयासमुद्रं भगवन्तं प्रविशति इति भावः। एकोनविंशं भावम् आहुः **पूर्णा भगवदीया** इति। ये **पूर्णा भगवदीया** भगवत्तोषं विना नान्यं जानन्ति, येषां सेवयैव तापापगमः, भगवदाज्ञाकारिणस्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः कथिता इति अर्थः। तेषां भावो रत्नाकरतुल्य इति अर्थः। तानेव वर्णयन्ति **शेषव्यासाग्निमारुताः** इति **शेषो** भगवत्सेवापरः स्वसुखादिकमविचार्य शय्यादिभावेन भगवन्तं सेवते, तेनैव

चात्मसुखं मन्यते। **व्यासः** कलावतारः सर्वोद्धारार्थः भगवद्गुणनिरूपणपरः, यस्य साक्षात् समाधिलब्धभगवद्दर्शनानन्तरं भक्तिशास्त्रनिरूपणेनात्मप्रसादः। अग्निर्महादेवो यः सर्वविरुद्धमोहशास्त्रमपि सृष्ट्याद्यर्थं भगवदाज्ञया स्वस्य तदीयत्वेन कृतवान्। अत एव ''वैष्णवानां यथा शम्भुः'' इति श्रीभागवते। अत्र महादेवस्य नाम विहायाष्टमूर्तिस्थाग्नित्वकथनेन मोहशास्त्रकरणे जयापदाहकत्वमुक्तम्। **मारुतो** हनुमान् श्रीकोशलेन्द्रचरणसेवनपरः। **जडो** जडभरतः भगवल्लग्नमानसत्वाज्जडवत् तिष्ठति। नारदः सदा भगवद्गुणगानेन भगवतोप्यानन्दजनकः। अत एव श्रुतिः ''यदा खलु वै पुरुषः श्रियमश्नुते तदा वीणाऽस्मै वाद्यत'' इति। **मैत्रो** मैत्रेयः पराशरशिष्यो भगवद्धर्मवक्ता। आद्यपदात् प्रह्लादादयः। तेषां भावो समुद्रतुल्यः रत्नाकरतुल्य इति अर्थः। यथा समुद्रोन्तः रत्नमयस्तथा चैतेप्यन्तर्भावयुक्ताः, अत एव कपिलैरुक्तं ''भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते'' इति।

पूर्णभावान् मार्गस्वरूपज्ञानभेदेन विशेषतो वर्णयन्ति **लोकवेदगुणैरिति**।

लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान्।।१५।।
वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः।

एके लोकमिश्रभावेन एके वेदमिश्रभावेन हरेर्गुणान् वर्णयन्ति। ते यथाक्रमं क्षाराद्याः क्षार आदिर्येषां ते षट्सङ्ख्याकाः प्रकर्षेण कीर्तिताः कथिता इति अर्थः। तेषां-तेषां भावो भिन्न-भिन्नतया तत्तत्समुद्रजलतुल्य इति अर्थः। रामकृष्णौ मनुष्यावेव परं बलतेजोधिकाविति देवौ वेति ज्ञात्वा गुणवर्णनपराः क्षारसमुद्रतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति अर्थः। यथा क्षारजलं न तृषानिवर्तकं नापि स्नानादिसुखकारि, किन्तु गम्भीरं मलादिनिवर्तकं तथैतेषां भावोपि न संसारतापनिवर्तको, नापि श्रवणेऽन्येषां भक्तिसम्पादकः, किन्तु देवादिज्ञानेन तत्स्वरूपशोधकः। बलाधिक्यादिगुणश्रवणेनान्येषां मर्यादाभक्तानां यत्किञ्चिनन्दाकारीति भावः। ये तु वेदरक्षार्थं भगवदवतारः, न तु भगवानानन्दमयः श्रीकृष्ण एवेति ज्ञात्वा गुणवर्णनपरास्ते दधिमण्डोदतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति भावः। यथा दधिमण्डस्यासारत्वात् न प्राणपोषूकत्वं न वा चित्ततापनिवर्तकत्वं, तथैतेषां भावस्यापि सच्चिदानन्दमयज्ञानाभावान्न मोक्षौपयिकत्वं न वा संसारनिवर्तकत्वम् इति भावः। मायया सत्त्वादिगुणैर्गुणमयं देहमाश्रित्य भगवान् सृष्ट्यादिकं करोति न स्वत इति ये गुणान् वर्णयन्ति तेषां भावः सुरोदतुल्यं इति अर्थः। यथा सुरा स्वरूपविस्मारिका पानकर्तुरिन्द्रियदोषजनिका, तथैतेषां, भावोपि भगवद्गुणानां सम्बन्धित्वेपि मायामोहेनस्वरूपविस्मारणं कारयति, स्वसम्बन्धेनान्यस्यापि तथात्वं सम्पादयति

इति भावः। हरिः सर्वदुःखहर्ता ''स सर्वज्ञः सर्वशक्ति''रित्यादिश्रुतिगोचरात् कारणभूतः सर्वं स्वेच्छयैव करोति इति ये गुणान् वर्णयन्ति ते क्षीरोदतुल्यास्तेषां भावस्तज्जतुल्य इति अर्थः। यथा क्षीरे स्वादुत्वं वीर्यजनकत्वमग्नितप्तत्वे माधुर्याधिक्यं, तथैतेषां भावस्यापि मनोहरत्वमधिकगुणगानार्थं शुद्ध्याधिक्यं तापानन्तरं च रसात्मकलीलाकर्तृत्वज्ञानानन्तरं तन्निरूपणेन माधुर्यत्वम् इति भावः। भगवानलौकिकवीर्यवान् स्वीयान् साधनरहितान् अपि स्ववीर्येणैव मोचयतीति ये गुणान् वर्णयन्ति तेषां भावो घृतोदतुल्यः इति अर्थः। यथा घृतं अन्यसम्बन्धं विनापि स्वपानेन बलवन्तं रोगमुक्तं च करोति, तथैतेषां भावोपि संसारसागरतरणाय योग्यदेहं करोति इति भावः। भगवान् हरिः शिवदुर्गाप्रभृतिभिः प्राप्तस्थानलक्षणस्तैर्मुहुरभि प्रार्थ्यचरणरिति चतुर्वर्गार्थं स एव सेव्य इति ते गुणगानपरास्तेषां भाव इक्षुरसतुल्य इति अर्थः। यथेक्षुरसो मधुरोन्तस्तापनोदी, तथैतेषां भावोपि सर्वसेव्यत्वज्ञानेन मधुरः सेवनप्रवृत्तौ च त्रिविधतापनिवारकश्चेति भावः। ''एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'' इत्यादिवाक्येभ्यः पुराणपुरुषोत्तमो भगवान् एवाल्पाश्रयरहितोऽसायुज्यार्थं सेव्य इति ये गुणवर्णनपरास्ते शुद्धोदतुल्यास्तेषां भावः शुद्धोदतुल्य इति अर्थः। यथा शुद्धोदं तृषादिनिवर्तकं स्नानादिना मलनिवर्तकं तापापहारी च, तथैतेषां भावोपि तृष्णादिनिवारकः पापनिवर्तकस्तापनिवर्तक इति भावः।।१५ १/२।।

पूर्ण भगवदीयेषु मुख्यान्निरूपयन्ति **गुणातीततया** इति।

गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिणः।
सर्वानेव गुणान् विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः।
तेऽमृतोदाः समाख्याताः तद्वाक्पानं सुदुर्लभम्।।१७।।

ये गुणातीतभावनाशुद्धाः केवलं सच्चिदानन्दरूपणो भगवद्रूपाः गुणा इति ये सर्वानेव गुणान् ननु न्यूनाधिक्यभावेन सर्वान् एव, श्रीयशोदायामाविर्भावमारभ्य रासोत्सवप्रभृत्यानृतपर्यन्तं विष्णोर्व्यापकस्य सर्वत्र तत्तद्रूपस्य ये वर्णयन्ति विचक्षणाः भगवल्लीलादिकरणरसज्ञातारः ते अमृतोदाः समाख्याताः सम्यक् प्रकारेण कथिताः तेषां भावः सुधासम इति भावः। यथा सुधाविशेषणम् अमृतसम्पादकत्वं देहभोग्यत्वं तथा एतेषां भावस्यापि भगवत्सेवायोग्यदेहसम्पादकत्वं भगवद्भोग्यत्वं तदितराभोग्यत्वं चेति भावः। एतादृशानां तद्वाक्पानं तेषां वचनामृतस्य पानं श्रवणं सादरं मनसा ग्रहणं अन्तर्निवेशनं सुदुर्लभं सुतरां दुष्प्राप्यं, सुदुर्लभत्वोक्त्या तत्सङ्गस्य भगवत्प्राप्यकत्वम् उक्तम् इति भावः। अत एव भगवतोक्तं 'सत्सङ्गेनैव'त्यारभ्य ''सिद्धा

मामीयुरञ्जसे''त्यन्तेन 'अधीते'।

इत्यारभ्य 'सत्सङ्गान्मामुपागत' इत्यन्तं च। तद्वाक्यमाहामत्यम् आहुः **तादृशानाम् इति।**

तादृशानां क्वचिद्वाक्यं दूतानामिव वर्णितम्।
अजामिलाकर्णनवद्बिन्दुपानं प्रकीर्तितम्।।१८।।

पूर्णभगवद्भक्तानां वचनामृतपानं दुर्लभम्, ते क्वचित् कृपया वाक्यं वदन्ति, तद्वाक्यं दूतानामिव सन्देहाराणामिव वर्णितं कथितम् इति अर्थः। यथा दूतवाक्यं तत्प्रभुवाक्यमेव, तथा तादृशानामपि वाक्यं भगवद्वाक्यमेव। भगवान् उद्दिधीर्षुः स्वीयमुखेन स्वधर्मान् न ज्ञापयति इति भावः। अत एव कपिलदेवेनोक्तं ''सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्य'' इति तत्सङ्गस्य भगवति प्रार्थनमुक्तं, न तु स्वकरणत्वं, तद्भगवानेव फलं दास्यन् करोतीत्याशयेनान्यथा न कार्यं इत्येवोक्तम्। तस्मात्तु तादृशानां वाक्यश्रवणं सादरं मनसोपदेशवत् ग्रहणं बिन्दुपानममृतबिन्दुपानं प्रकर्षेण कीर्तितम् इति अर्थः। यथामृतपानेनामरत्वं देवत्वं तथैतत्पानेन नाशाभावपूर्वकभगवत्सेवौपयिकत्वमेवेति भावः। अत एव श्रीभागवते ''परस्परं त्वद्गुणवादसीधुपीयूषनिर्यापितदेहधर्मा'' इति उक्तं। 'महिमामृतसमुद्रविप्रुष' इति च। अत्रानुभूतनिदर्शनम् आहुः **अजामिलाकर्णनवत्** इति। यथा विष्णुदूतेभ्यो भगवद्धर्मबलश्रवणेन भगवद्धर्म एव रूचिरभूत्, तदितरेष्वरुचिः, तथैतद्बिन्दुपानकर्तुरपि भवति।।१८।।

लौकिकाद्यासक्तिसहितबिन्दुपानेन रसास्वादो न भवति, तदर्थम् आहुः **रागाज्ञानादिभावानाम्** इति।

रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा।
तदा लेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम्।।१९।।

रागः स्नेहः पुत्रादिषु, अज्ञानं भगवत्स्वरूपस्य आदिपदेन सर्वविषयाद्यासक्तिः, तद्भावनां सर्वथा यदा नाशनं स्यात्, तदा लेहनमित्युक्तं भवति, रागादिभावानां नाशनं नामादर्शनं सवासनं तत्त्याग इति अर्थः। तदेव लेहनं रागाद्यभावपूर्वकबिन्दुपानं स्वानन्दस्य भगवदानन्स्योद्गमार्थं कारणं भवति इति भावः। स्वस्य जीवभावेन मायया तिरोहितनन्दस्योद्गमे प्राकट्ये सम्यक् तत्कारणं भवति इति अर्थः।।१९।।

विंशं भावम् आहुः **उद्धृतोदकवत्** इति।

---

१ तामस?

उद्धृतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्तथा।

उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः।।२०।।

पूर्वोक्तामृतदतुल्यातिरिक्तानां वाक्यानि तथैव तेषां सर्वेषां भावाः भगवद्भावचनेन गृहीताः। वाक्यानि च तथैवादरेण श्रुतानि उद्धृतोदकवदुपकुर्वन्ति यथा, तथा गृहीतानि प्रासादात् पतितोदकवत् उपकारं कुर्वन्ति इति अर्थः। उद्धृतोदकं यथा स्वस्य स्नानपानदशासु यत्नगृहीतत्वात् यत्किञ्चित्सङ्कोचन योग्यं भवति, तथैतेषां भावोपि इति भावः। तथैतेषां फलमपि भवति। पतितोदकं यथा बाह्यस्नानादियोग्यं, न तु पानादिषु, तथैतेषां भावोपि इति अर्थः। उद्धृतोदकं यथा पानादिदशायामेव तृषाशान्तिं करोति, स्वोत्पत्तिस्थानसदृशान् गुणान् विदधति, स्वस्थितिवशाच्च शीतोष्णभावं भजते, सुधा सदैकरूपेति सदैकरूपमेव गुणं विदधाति इति भावः।।२०।।

उपसंहरन्ति **इतीति**।

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि।

रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः।।२१।।

इतीति समाप्तौ प्रकारेण वा। जीवे इन्द्रियेषु गताः प्राप्ताः भुवि नानाभावं सात्त्विकादिभावं गताः प्राप्ताः एतादृशा विष्णोर्भगवतो गुणाः स्वरूपतः फलतश्च निरूपिता विवेचिता इति अर्थः।।२१।।

इति श्रीबालकृष्णकृतजलभेदविवृतिः समाप्ता।

परिशिष्टम् प्रथमम्।

पूर्णा भगवदीया इति अत्र। अत्र हि सामान्यत पुष्टिमर्यादामार्गयोः पूर्णा ये भगवदीयास्त उच्यन्ते। अत एव विवृतौ भक्त्या सेवया च पूर्णा इति उक्तम्। तत्र मर्यादामार्गीयास्तु भक्त्या माहात्म्यज्ञानसहितस्नेहेन पूर्णाः सर्वदा गुणपरा धर्मद्वारैव धर्मिपराः, पुष्टिमार्गीयास्तु धर्मिमात्रपराः, तेषां परोक्षे गुणपरत्वं धर्मिपरतयैव। तद्विरहे स्वरूपं विना स्थातुमशक्त्या [1]तत्परत्वात्। तत्र पुष्टौ गुणा अपि गीयमाना धर्मिरूपा एव। अत एव ''तव कथामृत''मित्यत्र कथाया अपि गुणरूपाया भगवत्समत्वबोधनाय षड्गुणत्वमुक्तम्। [2]तत् स्वरूपात्मकत्व एव सम्भवति। अन्यथा गुणे गुणानङ्गीकारेण तेषु षड्गुणत्वोक्तिर्विरुद्धा स्यात्। तत्र **शेषः** पुष्टिमार्गीय एव,

अन्तरङ्गलीलासम्बन्धित्वात्। **व्यासस्तु** मर्यादामार्गीयः, समाधिरूपसाधनेन भगवद्दर्शनवत्त्वात्। ''अपश्यत् पुरुषं पूर्णम्'' इति वाक्यात्। **अग्निस्तु** प्रभुरस्माकं पुष्टिमार्गीय एव, पुष्टिभक्तिरूपमुखारविन्दरूपत्वात्। मारूतोपि तथा, मर्यादापुरुषोत्तमेपि पुष्टिमार्गप्रकारेणान्तरङ्गभक्तत्वात्। अत एव श्रीसीतामनःसमाहितये लङ्कायां दूतिकाया इव तस्य प्रेषणम्। **जडो** मर्यादामार्गीयः, पूजापरत्वाद्दुःसङ्गसभयत्वात् देहावसानप्रतीक्षकत्वाच्च। **नारदोपि** तथा, सततं गुणपरतया तावन्मात्रेण स्वस्थत्वाच्च। **मैत्रेयोपि** मर्यादामार्गीय एव, भगवत्पारोक्ष्येपि विदुरोपदेष्टृत्वेन स्वस्थत्वात्। अन्यथोद्धव इव क्लिष्टोनुभूतान् निजस्वामिगुणानेव स्थातुमशक्ततयानुवदेत्। एवं सति पुष्टिमर्यादामार्गीयत्वाविशेषेण भक्तेषु पूर्णत्वमेवादाय समुद्रत्वमत्रोच्यते, न तु विशिष्य। तथा च यथा समुद्राः पूर्णाः तथैतेपि गुणैर्भगवदीयैर्भावैश्च पूर्णाः। यथा वा ते चन्द्रदर्शनेन तरलिततरङ्गाः, तथैवैतेपि गुणगानावसरे भावभावनावसरे च भगवद्वदनविधुदर्शनेन भावतरङ्गितान्तःकरणा इति तात्पर्यज्ञानादेव पुष्टिमार्गीयाचार्याणां मर्यादामार्गीयभक्तपङ्क्तिपाठोनुचित इति मत्सरिकथनं नीरमथनसदृशमेव। अत एवाग्रे ''लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेने''त्यनेन समुद्रसदृशभक्तेष्वेव षड्विधाः भिन्नाः कृताः, एकविधाः पुष्टिमार्गीया गुणातीततया 'शुद्धा' नित्यनेन भिन्नाः कृताः। भगद्गुणानां षड्विधत्वेन मर्यादामार्गीयाणां तु धर्मिस्वरूपमात्रपरत्वेनैकविधत्वम्। पूर्वे हि मिश्रभावाः तद्भावेषु गुणानां मिश्रणात्। तद्वारैव तेषां प्रभौ भाववत्त्वाच्च। उत्तरे तु शुद्धभावाः केवलस्वरूपेण तन्मात्रपरत्वात्। अत एव तद्गीयमानगुणेष्वपि स्वरूपात्मकत्वमभिप्रेत्याग्रे ''गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिण'' इत्यनेन शुद्धत्वमुक्तम्। अत एव विवृतौ ''पूर्णभगवदीयेष्वत्युत्तमान् निरूपयन्ति इति गुणातीततये''त्यस्याभास उक्तः। तदर्थस्तु पुष्टिमर्यादासाधारण्येनोक्त पूर्णभगवदीयेष्वत्युत्तमान् केवलपुष्टिमार्गीयान् निरूपयन्ति इति ज्ञेयः। अत एव पूर्णत्वेन समुद्रसदृशसत्वस्य सर्वेषु सत्त्वेपि तेष्वमृतोदतुल्यत्वनिरूपणम्। तस्मादेवमभिप्रायमवगत्य नास्मत्पितृचरणविवृतावज्ञमत्सरिभिः संशयलेशोपि विज्ञेयः। ननु तथापि तादृशपङ्क्तिपाठस्तदीयानां तानेव सर्वोत्तमत्वेन जानतां न मनोरमो भवति इति चेत? सत्यम्। नेदं तदीयजनवाक्यं, येन सम्भावितमप्यन्यत्र तत्साम्यमुच्यमानं न सहेयुः, क्व पुनर्वदेयुः, किन्तु निजाचार्यचरणानाम्। ते तु कञ्चिद् धर्ममादाय बहुषु स्थलेषु तथा वदन्त्येव, अन्यथा ''अर्थं तस्य विवेचितुम्''इति वाक्ये ''मां व्यासवत्'' इति दृष्टान्तेन व्याससाम्यं कथं वदेयुः। न हि भगवता निजाचार्यवत् पुष्टिपथप्रकटनाय व्यास आविर्भावितः, किन्तु कीरवत् तन्मुखतः शब्दात्मकं श्रीभागवतमाविर्भावयितुम्। अर्थस्य भगवद्रूपत्वेन तत्प्रकटनं तु 'स्वयमेवात्मनात्मानम्'इति वाक्यरूपेणैव भवति इति तत्प्रकटनाय

१ गुणपरत्वात्। २ षड्गुणत्वम्।

तदात्मकानाचार्यानेव, तत्रापि भागवतार्थो भक्तिरूप इति भक्तिरूपास्यरूपानेवाविर्भावितवान्। तथा च शब्दात्मकं श्रीभागवतं व्यासात् प्रकटितम्, अर्थात्मकमेतेभ्यः प्रकटितम् इति तावद्धर्ममादाय यथा तत्र स्वस्मिन् तद्दृष्टान्त उक्तः, एवमत्रापि पूर्णभगवदीयत्वमात्रमादाय तन्मध्ये स्वस्यापि गणनेति न दोषः। वस्तुतस्तु पूर्णत्वं भगवदीयत्वं चाचार्येषु भिन्नमेव। भगवदीयत्वं तदास्यरूपत्वेन, तत्त्वेन भक्तिरूपत्वं प्रभौ रसात्मकत्ववत्। अत एव यथा प्रभौ रसलीलायां तद्धर्माविर्भावो, ब्रह्मत्वं च तादृशस्यैव, तथात्रापि भगवदाज्ञया अवतीर्य जनशिक्षार्थं भजने भक्तिधर्माविर्भावो, भगवत्त्वेपीति भगवत्त्वभगवदीयत्वे अपि सम्भवत इति नानुपपत्तिः काचित्। पूर्णत्वमप्यत्र स्वरूपपूर्णत्वमेव। चेतस्तत्प्रवणसेवायां निरोधे पञ्चात्मकस्वरूपेणैव पूर्णत्वात्। अत एव 'रासस्त्रीभावपूरितविग्रह' इति प्रभोर्नाम। इतरत्र तु गुणैरेव तथात्वम् इति विभेदः। पूर्णभगवदीयत्वं तु सामान्यतः समम् इति तमादाय तथोक्तिरुचितैव। अन्यथैकादशे प्रभुणा स्वामिनीभावनिरूपणे ''यथा समाद्यौ मुनयोब्धितोय'' इति स्वामिनीषु मुनिदृष्टान्तकथनं न सङ्गच्छेत। स्वामिनीभावयोगयोः सुमेरुसर्षवत्तारतम्यात्। अत एवात्र स्वस्य श्रीभागवतप्रकटत्वेन तत्समतया व्याससमीप एव निरूपणम्। नैतावताचार्येष्वंशतोपि तत्स्वरूपसाम्यमायाति। कलावतारपुरुषोत्तमयोः साम्यसम्भावनाया अप्यसम्भवात्। अन्यथा भगवति पुरुषोत्तमे पुरुषरूपत्वसम्भावनाऽसम्भवेन ''पुरुषः शक्तिभिर्यथे''त्यादिना पुरुषदृष्टान्तकथनं बाध्येत। अतो धर्मेणैव केनचित् सर्वत्र समतोक्तिरिति नात्र दोषलेशोपि। अत एव, आनन्दरूपतया सहजनीले भगवति नीलनीरदृष्टान्तोपि युज्यते। किञ्च, ''अङ्गीकृतौ समर्याद'' इति सर्वोत्तमे नामनिरूपेणन प्रादुर्भावदशायां मर्यादापरिग्रहात् तत्पूर्णत्वमपि स्वस्मिन् बोधयितुं तत्पङ्क्तिपाठो[३] निरूपितः। नैतावता न्यूनत्वमायाति। ''अधिकं तत्रानुप्रविष्टं, न तु तद्धानि''रिति न्यायात्। अपरञ्च, यथा शुकेन सर्वावतारगणनायां श्रीकृष्णमपि निरूप्य ''कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'' इति तत्र विशेष उक्तः, [४]अवतारकार्यकरणात् पुष्टिकार्यकरणाच्च। तथाचार्येष्वपि यज्ञादिमर्यादाकार्यकरणात् सेवादिपुष्टिकार्यकरणाच्चोभयविधकार्यकर्तृत्वमस्ति इति बोधयितुं प्रथमतस्तन्मध्ये निरूपणं विधाय पश्चादाचार्याणां 'गुणातीततये'त्यादिना निरूपणं कृतमित्यस्मत्पितृपदविवृतावन्यथामतयोऽविज्ञातस्वपतय एवेति विद्वद्भिराचार्यचरणाश्रयैरवधेयम् इति दिक्।अभिज्ञविवृतावज्ञाः पूर्वपक्षं प्रकुर्वते।अशक्ता अपि सुज्ञास्तु विश्वसन्ति तदीरिते।।१।।

शक्तास्तदाश्रयबलादभिप्रायं विदन्ति हि।समादधति ते सर्वमतिमूढजनोदितम्।।२।।

गुरवः पितृपादा मे कथितेन सुते मयि।दासीभूते प्रसीदन्तु यच्छन्तु विमलां मतिम्।।३।।

इति श्रीहरिदासविरचितं ''पूर्णा भगवदीया'' इत्यस्य संशयनिराणकरणम्।

परिशिष्टम् द्वितीयम्।

अथेदं विचार्यते। श्रीवल्लभैः ''**पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः। जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः**'' इति जलभेदभावग्रन्थे चतुर्दिशं सामान्यतः चत्वारः समुद्रा इव शेषाद्या उक्ता भगवदीयाः (त्रुटिपत्रम्।) अत्र समुद्रशब्दो यौगिकोऽपि ग्राह्यः। तथा च मुद्रया सहिताः समुद्राः। मुद्राऽत्र वैदिकतान्त्रिकमिश्रमखवैष्णवधर्मप्रवर्तनसम्प्रदायरूपा तप्तशीतलचक्रादिचिह्नधारणरूपापि ग्राह्या। तेऽत्र चत्वारो वैष्णवधर्ममार्गसम्प्रदायिन आचार्याः परिगृहीताः। तत्र शेषः श्रीमन्नारायणोपासनमुख्यक वैदिकधर्मपरायणतप्तमुद्राङ्कितसात्त्विकाचार्यरामानुजरूपः सम्भूत उक्तः। व्यास श्रीगोपीजनवल्लभोपासनमुख्यकतान्त्रिकधर्मपरायणशीतलमुद्राङ्कितराज सोपचाराचार्यविष्णुस्वामिस्वरूप[१] उक्तः। अग्निः पुन उत्सन्न एव तत्सम्प्रदाये विलक्षणप्रकारतः सर्ववेदेतिहासपुराणादिसारोद्धारसम्मिश्रितश्रीगोपीजन वल्लभसेवनमुख्यकधर्मपरायणशीतलमुद्राङ्कितनिर्गुणभक्तिमार्गाचार्यश्रीवल्लभरूपः तत्स्थान उक्तः। मारुतो वायुजो हनूमान् महाविष्णुपूजनोपचारमुख्यकवैदिकतान्त्रिक धर्मपरायणतप्तशीतलोभयविध मुद्राङ्कितराजसतामसोपचाराचार्यमध्वाख्यरूपः संभूत उक्त इति चत्वारो मुख्यसम्प्रदायिन आचार्या उक्ताः।

अथ तेषां क्रमेणाग्रिमानुसम्पदायिनो निरूपयन्ति **जडनारदमैत्राद्या** इति। जडनारदमैत्राणामाद्या मूलभूता इति। जडो रामानन्दस्वरूपः सन् सर्ववर्णसंकलितो वैष्णवधर्मप्रवर्तकत्वात् शेषरामानुजस्य उपसम्प्रदायीभूतः। नारदस्तु कृष्णचैतन्यमुनिस्वरूपः।तथैव व्यासविष्णुस्वामिवल्लभा(चार्यो)पसम्प्रदायकप्रवर्तकः। सनातनमैत्रो मैत्रेयः श्रीरूपाख्यःसम्भूतः। उत्सन्ननिम्बार्कमार्गस्योपसम्प्रदायप्रकाशक श्रीभट्टहरिव्यासमतस्थ इति केचित्। वस्तुतस्तु श्रीरूपः सहजीव एव स्वयं मूलभूताचार्यवायुरूपमध्वाख्यस्योपसम्प्रदायी जात उक्तः। एतदुपष्टम्भकं श्रीमदाचार्याणामेव स्वेषां वचनं, यथा श्रीभागवते तृतीयस्कन्धे ''प्रावोचं भक्तियोगस्य स्वरूपं ते चतुर्विध''मित्यत्र ''भेदः पारमार्थिक'' इति शास्त्रं पुरस्कृत्य त्रिविधो

१ पङ्क्तिर्गणना तेषां गणनायां पाठो निरूपितः। २ व्यूहकार्यम्।

भक्तियोग उक्तः। ते च सम्प्रति विष्णुस्वाम्यनुसारिणः तत्त्ववादिनो रामानुजीयाश्चेह तमोरजःसत्त्वैःभिन्नाः (भक्ताः) अस्मत्प्रतिपादितश्चनैर्गुण्यः। एवं चतुर्विधोपि भगवता प्रतिपादितः, ''अभिसन्धाय योऽहिंसां'' इत्यादिभिरिति। पद्मपुराणे तु ''श्रीब्रह्मरुद्रसनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः। चत्वारस्ते कलौ भाव्याः सम्प्रदाप्रवर्तकाः। श्रीविष्णुस्वामिनिम्बार्कमध्वरामानुजारख्यया। भविष्यन्ति प्रसिद्धास्ते ह्युत्कले पुरुषोत्तमा''दित्युक्तम्। तत्र श्रीसम्प्रदायिकाः शेषरामानुजीयाः ब्रह्मसम्प्रदायिनो माध्वाः, रुद्रसम्प्रदायिनो व्यासविष्णुस्वामिसम्प्रदायानुवर्तिनः, सनकसम्प्रदायिनो निम्बार्कश्रीभट्टहरिव्यासीयाः साम्प्रतम्। एतदभिप्रेत्यैवमेव सम्प्रदायप्रदीपे ग्रन्थे गदाधरद्विवेदिनावेदितम्। भारतीये वैशम्पायनोक्तसहस्रनामस्तवेपि ''अहःसंवर्तको वह्निरनिलो धरणीधर'' इति अत्र पृथक् पृथगेतदाचार्यचतुष्टयस्वरूपनामैवोक्तम्। तदेतत्सहस्रनामटीकायां श्रीविष्णुवल्लभाख्यां द्रष्टव्यम्।

वियदर्थवसुग्लौभिर्मितेऽब्दे मोदनामनि।

चैत्रे सिते गुरौ द्वैते श्रीशः काश्यामदोऽलिखत्।।१।।

श्रीकृष्णाय नमः।

पञ्चपद्यानि।

श्रीहरिरायकृतविवरणसमेतानि।

एवं जलभेदे पूर्वश्लोकैर्विंशतिधा भिन्ना भक्तास्तद्भावाश्च निरूपिता जलदृष्टान्तेन, तेषामन्यहृदयसार्द्रीकर्तृत्वज्ञापनाय। तेषां च पुनर्भक्तानामदृष्टादशविद्याप्रतिपादितभगवद्गुणानामष्टादशविधत्वेन तन्मात्रपरतया केवलमर्यादामार्गीयाणामष्टादशविधत्वात्, पुष्टिमार्गीयां मिश्रशुद्धभेदेन द्विविधत्वासगुणनिर्गुणभेदेन दशविधानां मर्यादापुष्टिभेदेन द्विविधत्वाद्वा विंशतिविधत्वम्। तद्भावानामपि तद्वर्तित्वेन तथा सङ्ख्यावत्त्वम्। अतः परं तद्वाक्यद्वारा तद्भावग्राहकान् श्रोतॄन् पुष्टिमर्यादाभेदेन द्विविधान्, पुष्टिमार्गीया एकविधा उत्तमा एव, मर्यादामार्गीयास्तु मध्यमाधमोत्तमभेदैस्त्रिविधा इति चतुर्विधांश्च निरूपयितुं प्रथमं मुख्यत्वेन पुष्टिमार्गीयान्निरूपयन्ति।

श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसारतिवर्जिताः।

अनिर्वृता लोकवेदे मुख्यास्ते श्रवणोत्सुकाः।।१।।

श्रीकृष्णः श्रिया परमशोभया लक्ष्म्या वा युतः कृष्णः सदानन्दो निर्दोषनित्यगुणपूर्णो रसिकशिरोमणिस्तस्य यो रसो भजनानन्दरूपः अथवा स एव रसः स्थायिभावात्मा विरहरूपः, तेन परोक्षे हृदयागतेन विक्षिप्तं स्थानात् प्रचलितं यन्मानसमन्तःकरणं तत्र या अरतिश्चरितश्रवणविषयिणी तथा वर्जिता इति अर्थः। अयमर्थः। भगवच्चरिताकर्णनविषयिणी अरतिर्द्वेधा निवर्तते, मर्यादापुष्टिमार्गभेदेन। तत्र मर्यादामार्गे ''शुश्रूषोः श्रद्दधानस्ये''ति वाक्यान्महत्सेवापुण्यतीर्थनिषेवणादिभिः रुचिरुदेति, ततो अरतिर्निवर्तते। पुष्टिमार्गे तु तद्रसस्वाभाव्यादेव[१] ''दुस्त्यजस्तत्कथार्थ'' इति वाक्यान्निवर्तते। तथा च पूर्वोक्तेषु पुष्टिमार्गीयत्वावगतय एवमुक्तम्। एवं चरित्रश्रवणे तेषामरत्यभावं निरूप्य तन्मात्रविषयकरतिं निरूपयितुं लोकवेदानिर्वृतिम् आहुः **अनिवृतां[२] लोकवेद** इति। लोकयुक्ते वेदे प्रवृत्तिमार्गीयधर्मबोधके भगवदितरभजनविधायके। अथवा लोके वेदे चानिर्वृता निर्वृतिरहिता अस्वस्था इति अर्थः। उभयोरपि लोकवेदयोः ''ये त्यक्तलोकधर्माश्चे''ति वाक्यात्त्याज्यत्वेन तुल्यताबोधनाय समस्तं पदम्। अत एव लोकानिर्वृतिबोधनाय ''पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्'' इत्यादिवाक्यान्युक्तानि। वेदानिर्वृतिबोधनाय ''मग्नमुद्धर गोविन्दे''त्युक्तम्। त्वमेव साक्षाददतिदुःखसागरे निमग्नं व्रजमुद्धर, नतूद्धृतेन वेदेन वयमुद्धर्तव्या इति आशयेन एवं ये पुष्टिमार्गप्रकारेणारत्यभावरतिभावयुक्तास्ते मुख्याः

---

१ विप्रयोगे गुणगानं विना स्थातुमशक्यम्। २ अस्वास्थयम्।

पुष्टिमार्गीयत्वेन श्रेष्ठाः। अथवा मुखं पुष्टिमार्गीया भक्तिस्तत्रभवा भक्तिरूपभगवन्मुखारविन्दसंलग्नालककुलत्वेनोच्यमानाः३ सम्भूय भक्तिमात्रश्रयेण पुष्टिमार्गमुक्ता जीवा मुख्या इति अर्थः। ननु पूर्वमनिर्वृता लोकवेद इति अनेन भगवति रतिरुक्ता, न श्रवणादिष्विति तेषु गौण्येव सेति कथं मुख्यश्रोतृत्वम् इति आशङ्क्य आहुः **श्रवणोत्सुका** इति। भगवति रतावपि वियोगे श्रवण एवोत्सुकाः। औत्सुक्यं तत्रैव। प्रियप्रीत्यापि परोक्षे तत्सन्देशहारके प्रीतौ श्रवणौत्सुक्यस्य स्पष्टत्वात्। अत एवोक्तं ''इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत्सुकास्तमुत्तमश्लोक पदाम्बुजाश्रयम्'' इति। तथा च रसिका रसविक्षिप्तमनसश्चरितसहजभावाः वियोगार्तियुताः प्रियवार्ताश्रवणमात्रैकमतयः पुष्टिमार्गीयाः श्रोतार इति सिद्धम्।।१।।

एवं पुष्टिमार्गीयान्भक्तान् निरूप्य मर्यादामार्गीयांस्तान्निरूपयितुं तत्रोत्तमा अतिदुर्लभा इति प्रथमं मध्यमान्निरूपयन्ति।

विक्लिन्नमनसो ये तु भगवत्स्मृतिविह्वलाः।।।

अर्थैकनिष्ठास्ते चापि मध्यमाः श्रवणोत्सुकाः।।२।।

विशेषेण क्लिन्नं तदेकपरतया कोमलत्वादार्द्रं मनो येषाम् इति अर्थः। यथार्द्रं वस्तु स्वसम्बद्धमप्यार्द्रयति तथा येषां मनः स्वसम्बन्धिनामपि रूक्षत्वेन शुष्काणां चेतः सार्द्रं विदधाति, शुकादीनामिव त इति अर्थः। य इति अनेन सर्वत्र प्रसिद्धाः मर्यादामार्गीया उक्ताः। तुशब्देन पूर्वोक्ताः पुष्टिमार्गीया व्यावर्तिताः। ननु विल्किन्नमनस्त्वं पुष्टिमार्गीयेष्वपि तद्रीत्या भवति इति तद्व्यावर्तकं धर्मम् आहुः **भगवत्स्मृतिविह्वला** इति। श्रवणावसरे या चरित्रसम्बन्धितया भगवतः षड्गुणपूर्णस्य स्मृतिः स्मरणं तेन, न तु स्तायिभावात्मकेन रसेन विह्वलास्तल्लीलाविशिष्टप्रभुदर्शनाय व्याकुला इति अर्थः। ननु पूर्वोक्तधर्मद्वयेनापातत उत्तमत्वमेव तेषु भासत इति व्यक्ततया मध्यमत्वबोधकं धर्मम् आहुः **अर्थैकनिष्ठा** इति। ते पूर्वोक्तधर्मयुग्मेनोत्तमतया भासमाना अपि अर्थः पुरुषार्थो मोक्षादिः, अथवा अर्थः। प्रयोजनं स्वकृतार्थत्वादिः स एवैको मुख्यस्तन्निष्ठाः, न तु मुख्यतया चरित्रनिष्ठाः। फलसापेक्षत्वान्मध्यमा इति अर्थः। ननु तादृशाः श्रोतार एव न भवन्ति, तत्र तात्पर्याभावात् इति आशङ्क्या आहुः **श्रवणोत्सुका** इति। तत्साध्यफलतात्पर्यवत्त्वेपि[४-५] श्रवणे भगवच्चरित्रश्रवणे उत्सुका औत्कण्ठ्यवन्त इति तेषां श्रोतृत्वेन मध्यमत्वम् इति अर्थः। यथा परीक्षिदादीनाम्। तेषामितरापेक्षया पूर्णवैराग्यवत्त्वेनोत्तमत्वेपि सोपाधिकप्रवृत्तेर्विदुरोद्धवाद्यपेक्षया[६] मध्यमत्वमेव। अत एव ''प्रायोपविष्टो गङ्गायाम्'' इति वाक्यात्परीक्षितः स्वकृतार्थताहेतुत्वेन गङ्गाद्यपेक्षा।

१ अलिकुलेति पाठः २ चरित्र ३ मोक्षादि ४ मुक्त्यर्थम् ५ तेषु मध्यमत्वम्

अन्यथान्यत्रैवोपविष्टः स्यात्। भगवच्चरित्रं तु भगवानिव न स्वफलसाधनेन्यदपेक्षत इति स्वार्थनिष्ठत्वमेव तत्र प्रयोजकम् इति तत्र तथात्वम्७। विदुरस्य तु ''यत्र मित्रासुतो मुनि''रिति वाक्याद्वक्तृसन्निहितस्थलत्वेनैव तत्र गमनं, न गङ्गोद्देशेनेति स्वार्थनिष्ठत्वाभावाच्चरित्रमात्रनिष्ठत्वेनोत्तमत्वमेवेत्यर्थः। मर्यादामार्गीयत्वं तु परीक्षिद्विदुरयोः समानं शुद्धिसापेक्षफलसिद्धेः। अत एव तीर्थाटनसत्सङ्गाभ्यामेव विदुरे श्रवणाधिकारः सिद्धः। परीक्षिति तु स्पष्ट एव। अत एवास्मदाचार्यैरुक्तं ''मर्यादास्थस्तु गङ्गायां श्रीभागवतपर'' इति अन्येशामपि तथाविधानां चित्तचाञ्चल्याभावसाधनत्वाभिप्रायेण।।२।।

एवं मध्यममान्निरूप्याधमानामप्रयोजकत्वेन भिन्नतया अनिरूपणी यत्वादुत्तमनिरूपणमध्य एव केनचिद्धर्मेण तान्निरूपयितुमुत्तमानेव प्रथमं निरूपयन्ति।

निःसन्दिग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन ये विदुः।

ते त्वावेशात्तु विकला निरोधाद्वा न चान्यथा।।३।।

कृष्णस्य सदानन्दस्य तत्त्वं वास्तवं रूपं रसात्मकं तादृशकरपादादियुक्तत्वेन साकारं व्यापकं स्वेच्छया मायापसारणेनाविर्भाववत् निःसन्दिग्धं शास्त्रस्वानुभवाभ्यां सन्देरेहरहितं तत्रापि सर्वभावेन ''यावान् यश्चास्मि'' इति वाक्याद्रसात्मकः साकार एव सर्वरूप इति भावेन तात्पर्येण विदुर्जानीयुरित्यर्थः। नन्वेवं दृढज्ञाने श्रवणापेक्षा अभावान्न श्रोतृत्वमुपपद्यत इति आशङ्क्या आहुः **ते त्विति।** पूर्वोक्ता दृढज्ञाना अपि ज्ञानेन हृदये भगवदावेशात् तु विकला ज्ञातृत्वेन स्वस्फूर्तिरहिता इति तदुपपद्यत इति अर्थः। अत एवोक्तं ''हरेर्गुणाक्षिप्तभतिर्भगवान् बादरायणि''रिति। तुशब्देन रसावेशवन्तो व्यावर्तिताः। तेषां रसावेशस्य सार्वदिकत्वेन कदापि स्वरूपज्ञानानुदयात्। ज्ञानस्य च रसोदयप्रतिबन्धकत्वात्। अत एव सर्वव्यापकस्य स्वान्तःस्थितस्यापि प्रभोरन्वेषणादौ प्रवृत्तिः (सर्वदा रसावेशवतामन्वेषणादौ प्रवृत्तिः। रसात्मकस्वरूपव्यापकस्वरूपज्ञानोदये सति अन्वेषणादौ प्रवृत्तिर्न स्यात्। गोपिकानां तु सर्वदा रसावेशवत्त्वम्। अतः प्रवृत्तिः)। तदेवोक्तं सिद्धज्ञानेन श्रीशुकेन ''प्रप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तम्'' इति प्रभुविशेषणकथनेन। अत एवोक्तं प्रभुणापि ''न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेत्'' इति। ननु भगवदावेशे भगवत इव सर्वज्ञत्वमुचितं, तत्कथमेतेषां वैकल्यं, यतो हेतोर्गुणश्रवणे प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य पक्षान्तरम् आहुः **निरोधाद्वेति**। तेषां गुणैरेव निरोधात्। प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं भगवदासक्तिसम्पादनात्। गुणानामपि स्वातन्त्येण निरोधकत्वं श्रूयते ''मद्गुणश्रुतिमात्रेणे''त्यादौ। अतो निरोधेन वा वैकल्यम् इति अर्थः। नचान्यथेति

स्वरूपनिरोधान्न तथेत्यर्थ:।।३।।

एवं श्रोतृत्वमुपपाद्य कदाचिन्मोक्षाद्यर्थनिष्ठतैतेषामपि भविष्यति इति आशङ्क्याथैकनिष्ठत्वप्रयुक्तं मध्यमत्वं वारयन्त आहु:।

पूर्णभावेन पूर्णार्था: कदाचिन्न तु सर्वदा।

अन्यासक्तास्तु ये केचिदधमा: परिकीर्तिता:।।४।।

सर्वत्र पूर्णो यो भगवद्भावो ज्ञानेन भगवदावेशाद् निरोधाद्वा सर्वत्र भगवत्स्फुरणात्तेनैव पूर्ण: अर्थ: पुरुषार्थो येषाम् इति न तेषामन्य: स्वार्थ इति, तन्निष्ठत्वेन मध्यमत्वं न किन्तु भगवन्मात्रनिष्ठत्वेनोत्तमत्वम् इति अर्थ:। नन्वेवं पुष्टिमार्गीयेभ्यो न भेद आयाति, तेषामप्येवंविधत्वात् इति आशङ्क्य आहु: **कदाचिन्न तु सर्वदेति**। एतेषां भावनावसरे गुणगणाकर्णनावसरे वा तात्कालिकनिरोधात् तथात्वम्। पुष्टिमार्गीयाणां तु सदैव तथात्वम् इति अर्थ:। अत एव शुकादीनां न सर्वदा लीलेतराननुसन्धानम्। अन्यथा ''मथुराया व्रजं गता'' इति ताटस्थ्येनोक्तिर्नोपपद्येत। पुष्टिमार्गीयभक्तभावस्य तु सार्वदिकत्वं प्रभुरेवाह एकादशे ''ता नाविदन्'' इति पद्ये नीरनिधिनीरप्रविष्टनदीदृष्टान्तेन। नहि महाजलधिजलप्रविष्टा नद्य: कदापि पूर्वभावं प्राप्नुवन्ति। स्वरूपेण स्थिता अपि न भेदेन व्यपदिश्यन्ते। अत: पुष्टिमार्गीयेषु भगवदितरस्फूर्तिरहितभाववद्भगवदीयत्वं भगवत्त्वं च, भगवता सहौतप्रोतन्यायेनैक्यात् मर्यादामार्गीयेषु श्रवणादिना भगवदीयत्वमेवेति महानेव भेद इत्यलमुक्त्या। एवं बहि:संवेदनाभावदशायां मर्यादामार्गीयोतमान्निरूप बहि:संवेदनदशापन्नांस्तान्निरूपयितुं बहि:संवेदनप्रसङ्गेन मध्ये अधमान्निरूपयन्ति **अन्यासक्ता** इति। ये केचित् ब्राह्मणत्वशूद्रत्वादिभिरुत्कर्षापकर्षयुक्ता अप्यन्यद्गृहादिकं तत्रासक्त्या वृत्त्यादिसम्पादकत्वेन लोकानामग्रे कथनार्थं भगवद्गुणश्रोतार: 'क्षेत्रप्रविष्टा' इत्यादिनोक्तगुणगायकभावग्राहका अधमा: परिकीर्तिता इति अर्थ:। तुशब्देन भगवदर्थकगृहासक्ता व्यावर्तिता:। तस्यास्तु पुष्टिमार्गीयमोक्षरूपत्वेन उत्तमत्वसम्पादकत्वात्।।४।।

एवं मध्ये अधमान्निरूप्य पुनर्बहि:संवेदनदशापन्नानुत्तमान्निरूपयन्ति।

अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमा: श्रवणादिषु।

देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्मप्रकारत:।।५।।

बहि:संवेदनदशायामपि न विद्यते अन्य: भगवदतिरिक्तो यत्र एतादृशं मनोयेषाम् इति अर्थ:। ननु को विशेषस्तदान्त:संवेदन इति आशङ्क्यानन्यचेतस्त्वे प्रकारभेदम्

आहु: देशकालेत्यादि। अन्त:संवेदने हि देशादयो भगवत्वेनैव स्फुरन्ति, न देशत्वादिभि:। केवलभगवदाकारान्त:करणे सर्वत्रावरणनाशात्, बहि:संवेदने त्वन्त:करणस्य प्रपञ्चप्रवेशेन। तदाकारत्वे देशत्वादिप्रकारेण तत्स्फूर्तौ तत्र भावनामात्रेण भगवद्बुद्धिरिति विशेष इति अर्थ:। ननु तदानीं कथं भगवत्त्वेन सर्वस्फूर्ति:, नेदानीम्, अन्त:करणस्य तस्यैव स्वरूपत: सत्त्वादित्याशङ्क्याहु: **मर्त्या** इति। अन्त:संवेदने हि ते भगवद्रूपा एव, भावनया तदात्मकत्वात्, अतो न तेषामन्यस्फूर्तिस्तदा, बहि:संवेदने तु मर्त्यत्वादितरस्फूर्तिरिति तत्र देशादिषु शास्त्रैराहार्या भगवद्बुद्धिरित्यर्थ:। एतादृशा मर्यादामार्गे श्रवणादिषु आदिपदेन कीर्तनप्रभृतिषु चोत्तमा इति अर्थ:।।५।।

भाववतस्तद्भावान् निरूप्य पूर्वं ततो भक्ता:।

मार्गद्वयेन चोक्ता: श्रोतार: श्रीमादचार्यै:।।१।।

आचार्या निजकरुणामात्रा: कुर्वन्तु सन्तुष्टा:।

नाम्ना मां हरिदासं रूपेणापि स्वत: प्रभव:।।२।।

इति श्रीहरिदासीयं श्रोतृचातुर्विध्यकथने निजाचार्यश्लोकपञ्चकविवरणं सम्पूर्णम्।

श्रीकृष्णाय नमः।

पञ्चपद्यानि।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवरणसमेतानि।

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः भक्तिवर्धिन्या बीजभावदाढ्र्योत्तरं भक्तिवृद्ध्यर्थं श्रवणकीर्तने साधनत्वेनोक्तवन्तः, बीजदाढ्र्यार्थं च पूजां श्रवणादीनि च नवापि साधनत्वेनोक्तवन्तः। तत्र श्रवणं नाम भगवद्वाचकपदवाक्यानां शक्तितात्पर्यनिर्धारः। कीर्तनं च तन्निर्धारपूर्वकं मुखादुच्चारणाम्। एवं तयोः स्वरूपस्य साधारणत्वे त्यागानन्तरं क्रियमाणयोः कुतो भक्तिवृद्धिहेतुत्वम्, ततः पूर्वं क्रियमाणयोश्च कुतो बीजदाढ्र्यमात्र एवोपकारकत्वम् इति आकाङ्क्षायां निरोधलक्षणे ''महतां कृपया यावत्'' ''महतां कृपया यद्वत्'' इति श्लोकाभ्यां यथा कीर्तने विशेष उक्तः महत्कृपाभिव्यक्तभगवत्कृपयाकीर्तनस्यानन्दसन्दोहजनकत्वम् इति प्रथमाधिकारे महतां कृपया यथा भगवदीयकृतं कीर्तनं सुखदं तथा लौकिकसम्बन्धिकीर्तनं न सुखदं, किन्त्वरुचिविषय इति, तत उत्कृष्टाधिकारे विशेषः कीर्तनस्याधिकार्यनुभवभेदविचारणोक्तः। तथा श्रवणस्य कुत्रापि नोक्त इति तदर्थं पञ्चश्लोकान् **श्रीकृष्णरसविक्षिप्तेत्यादिकान् हरेर्भक्ता** इति निगमनान्तान्वदन्ति। प्रथममुत्कृष्टं भक्तिवृद्धिजनकं त्यागिनां भावम् आहुः **श्रीकृष्णेत्यादि।** किञ्च, ननु यथा स्वस्मिन्भगवद्भावसम्भवरूपं श्रवणफलसिद्ध्यर्थं श्रवणस्योत्कर्षार्थं च वक्तृभावान् परीक्ष्य तत्सङ्गः श्रवणार्थं विधेय इति जलभेदे प्रतिपादितम् तथा वक्त्रापि भगवद्भावसम्भवरूपकीर्तनफलसिद्ध्यर्थं श्रोतृभावः परीक्षणीयः, तृतीयस्कन्धे विदुरमैत्रेसंवादे विदुरमैत्रेयज्ञानसंक्रमस्य च परस्परसंवादेन प्रतिपादितत्वात्। अतः कीर्तनसिद्ध्यर्थं श्रोतॄन् विचारयन्ति श्रीकृष्णेत्यादि।

श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसा रतिवर्जिताः।

अनिर्वृता लोकवेदे ते मुख्याः श्रवणोत्सुकाः।।१।।

अत्र **अनिर्वृता लोकवेद** इति विशेषणं त्यागवत्त्वबोधकम्। तादृशामेव हि लोके वेदे चानिर्वृतेः। **रतिवर्जिता** इति विशेषणं तु रती रमणं बहिर्भगवत्प्रकट्येन भगवता सह संलापादिकं, तद्रहिता इति अर्थकम्। एतेन निरोधलक्षणे ''क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वे''ति श्लोकद्वयेन यादृशोधिकार उक्तस्तद्राहित्यं सूचितम्। तेन ततः पूर्वं यो गुणगानाधिकारः, यश्चोत्कृष्टः कीर्तनाधिकारस्तदुभयं क्रोडीकृतम्। तदत्र आहुः **श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसाः श्रवणोत्सुका** इति पदद्वयेन। तथाच श्रीकृष्णस्य

भगवतो यो रसो लीलासम्बन्धिभजनानन्दात्मकः, तेन विक्षिप्तं मानसं येषां ते तथा, एतेन तेषां स्वार्थाननुसन्धानं सूचितम्। एते पुष्टिमार्गीया उक्तधर्मेणावगन्तव्याः। किञ्च, श्रवणे उत्सुका उत्कण्ठायुक्तास्ते भक्ता मुख्याः श्रवणाधिकारिणः। तत्र यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाद्य इति अध्याहारः। एतेन ये कीर्तने द्वितीयाधिकारिणो ये च गुणगाने प्रथमाधिकारिणतत् तुल्या इति उक्तम्। कीर्तनगानयोर्ज्ञानपूर्वकत्वात्तस्य च श्रवणपूर्वकयादृशे, श्रवणे तादृशत्वस्यैव सिद्धेरिति। नन्वेकादशस्कन्धे ''अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम्'' यथाचरति यद्ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रिय'' इति जनकप्रश्ने हरिणा योगीश्वरेण ''सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मन'' इत्यादिभिरेकादशभिः श्लोकैः कर्मज्ञानभक्तिमिश्रा भागवता उक्ताः, सुबोधिन्यां व्याख्याताश्चेति। त एवात्र कुतो नोक्ता इति चेत्? उच्यते। तत्र हि, प्रश्ने नृणाम् इति पदात्साधारणा एव भागवताः पृष्टाः, नत्वात्यन्तिका इति अतस्तदनुक्तिः, किञ्च, तत्र तेषां फललक्षणे ''विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोप्यघौघनाशः, प्रणयरशनया धृतांघ्रिपद्मः स भवति भगवतप्रधान उक्त'' इति अनेन भगवतः सर्वदा तद्धृदयस्थितिर्भागवतप्रधानलक्षणत्वेनोक्ता। सा च स्वमात्रगम्यत्वेन तत्र स्फुटति, नत्वन्यगम्यत्वेनेत्यन्यगम्यं लक्षणं तत्सङ्गार्थं वक्तव्यम्, तदत्रोच्यत एवेति पुष्टिमार्गे यादृशा विवक्षिताः तेत्र लक्ष्यन्त इति तदनुक्तिरिति जानीहि। तत्र प्रथमविशेषणद्वयेन यद्धर्मत्वं, तृतीयेन यादृशत्वं तुरीयेण यथाचरति इति अर्धोक्तं सिध्यति इत्यपि बोध्यम्। ''तथा न कामकर्मबीजानाम्'' इति श्लोकोक्तलक्षणवत्वमपि सिध्यति इति च बोध्यम्।।१।।

एवं शुद्धपुष्टिमार्गीयान् मुख्यान् श्रवणाधिकारिणो निरूप्य पुष्टिमर्यादामार्गीयान् मध्यमान् आहुः **विक्लिन्नेत्यादि।**

विक्लिन्नमनसो ये तु भगवत्स्मृतिविह्वलाः।

अर्थैकनिष्ठास्ते चापि मध्यमाः श्रवणोत्सुकाः।।२।।

विशेषेण क्लिन्नं तदेकपरतया कोमलत्वाद्भगवद्रसेनार्द्रं मनो येषां ते तथा। **तु** पुनर्ये भगवतः स्मृत्या स्मरणेन विह्वला विवशतां प्राप्ताः, च पुनर्ये श्रवणोत्सुकाः। श्रवणोत्कण्ठायुक्तस्ते त्रिविधा अपि अर्थैकनिष्ठाः अर्थः प्रयोजनं स्वकृतार्थतारूपं भक्तिबीजदाढ्र्यरूपं वा, तत्र एका मुख्या निष्ठा नितरां स्थितिर्येषां तादृशाः सन्तः मध्यमा भक्ताः। एवं च गृहस्थाः आसक्तेर्व्यसनस्य वा साधनपरास्ते पूर्वोक्तधर्मवत्त्वेपि साधनपरत्वात्तेषां भगवन्निष्ठायास्तादृशसाधन एवोपयोगात्पूर्वोक्तधर्मवत्त्वेपि मध्यमा एवेत्यर्थः। अत्रापि प्रथमविशेषणेन यद्धर्मत्वं द्वितीयेन च यादृशत्वं बोधितम्।

तेनैवाचरणोक्ती अपि सूचितप्राये बोध्ये।।२।।

एवं पुष्टिमर्यादामार्गीयान्मध्यमानुक्त्वा मर्यादापुष्टिमार्गीयान् जघन्यान् आहुः **निःसन्दिग्धम्** इति द्वाभ्याम्।

निःसन्दिग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन ये विदुः।

ते त्वावेशात्तु विकला निरोधाद्वा न चान्यथा।।३।।

पूर्णभावेन पूर्णार्थाः कदाचिन्न तु सर्वदा।

अन्यासक्तास्तु ये केचिदधमाः परिकीर्तिताः।।४।।

कृष्णत्वं भगवतः सर्वकर्तृत्वं षड्गुणवत्त्वं परमकृपालुत्वं दीनबन्धुत्वं भक्तिज्ञानादिजनकत्वं पतितपावनत्वादिकं चानारोपितरूपं निःसन्दिग्धं यथा स्यात्तथा सर्वभावेन भगवतः सर्वत्वेन ये विदुः जानन्ति, तु पुनरावेशाद्भगवदावेशान्निरोधाद्वा ये विकलाः, च पुनरन्यथा न। किञ्च, पूर्णभावेनेति श्लोकोक्तकालपरिच्छिन्नधर्मवन्तस्ते ज्ञानप्रधानत्वादन्यावेशेन भक्त्युत्कर्षराहित्याच्च जघन्या इति अर्थः। तेन तादृशां-तादृशां सङ्गे वक्तुरपि तादृशतादृशभावस्य सिद्धिरिति यथासम्भवमुत्कृष्टसङ्ग एव प्रयतनीयम् इति बोध्यम्।।३-४।।

ननु भवत्वेवं तथापीदानीं जघन्यानामपि दुर्मिलत्वात्कीर्तनमुच्छिन्नप्रायं भवेत् इति तदभावार्थं सामान्यतः श्रवणादिभक्त्यधिकारिण आहुः **अनन्यमनस** इत्यादि।

अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमाः श्रवणादिषु।

देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्मप्रकारतः।।५।।

प्रकारत इति ल्यब्लोपे। तथा च देशादीन् प्रकारान् प्राप्य ये भगवदेकमनसस्ते श्रवणादिषु भक्तिषु सङ्गार्थं मृग्याः, यदि पूर्वोक्ता न मिलन्ति। मिलने तु नैतादृशेषु सज्जनीयम् इति न काचिदनुपपत्तिरित्यर्थः।

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीपीताम्बरतनुजश्रीपुरुषोत्तमविरचितं श्रीकृष्णरसविक्षिप्तेत्यादिश्लोकपञ्चकस्य विवरणं सम्पूर्णम्।